योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : **योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज**

वर्ष-32 मई, 1999 अंक-2

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन

संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
MAY, 1999

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	8-00
वार्षिक शुल्क	रु०	75-00
द्विवार्षिक	रु०	140-00
आजीवन	रु०	750-00

इस अंक में

❒ अमृतकण 2
❒ विशेष लेख
अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज... 3
❒ सम्पादकीय 10
❒ श्री परशुराम वन्दना
पं. महेश बोहरे 13
❒ त्रिबल शुद्ध दाम्पत्य जीवन
पं. महेश बोहरे 14
❒ श्री प्रभुलीलायें
केशव देव उपाध्याय 17
❒ किमस्तियोग:
श्री द्वारका प्रसाद शर्मा 20
❒ जीवनयापन की श्रेष्ठतम् पद्धति भोग नही योग है
ब्रह्मचारी ओमप्रकाश 23
❒ योगमार्ग में गुरु की महत्ता
श्री पूर्णचन्द्र पन्त 26
❒ तन्त्रोक्त ज्ञानयोग
डा. स्वामी केशवाचार्य 30
❒ अद्भुत कृपालीला
श्री राजेश कुमार श्रीवास्तव 34

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 14	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	मई 1999

अन्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु—

न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।

कठोपनिषद् २/२/११

अर्थात्

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का प्रकाशक सूर्य देवता लोगों की आँखों से होने वाले बाहर के दोषों से लिप्त नहीं होता; उसी प्रकार सब प्राणियों का अन्तरात्मा एक परब्रह्म परमात्मा लोगों के दुःखों से लिप्त नहीं होता क्योंकि सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है।

अमृत कण

एष सर्वेषु भूतेषु गुढात्मा न प्रकाशते
दृश्यते त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:।

आत्मा सम्पूर्ण भूतों में विद्यमान होते हुये भी इस प्रकार गुह्यभाव से अवस्थान करता है कि कोई भी उसे बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। केवलमात्र जो सूक्ष्म दर्शी है वही साधनादि द्वारा लब्ध एकाग्र सूक्ष्म बुद्धि के प्रभाव से ही उसको प्रसन्न करने में होते हैं।

* * *

यथाव्यस्थितो वन्हिर्दारुष्वेव स्वयोनिष
नानेव भाति विश्वात्मा भूतेषु च तथा पुमान्।

जिस प्रकार अग्नि एक होते हुये भी दहन काल में दाह्य काष्ठ के अनुरूप ही उसका विभिन्न आकार होता है। उसी रूप वह विश्व व्यापी परमात्मा भी स्वरूपत: एक होते हुये भी आधार भेद से उसके विविध आकार मालूम होते हैं।

* * *

यदा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्सनं प्रकाशयति भारत।।

जिस प्रकार से एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार से क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र जड़ वर्ग को प्रकाशित करता है।

☐ विशेष लेख

या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैंने तुम्हें पहले भी व्याख्यानों में कई बार समझाया है—**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत्'** ब्रह्मचर्य एवं तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया है। केवल योगी व ब्रह्मचारी ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लिया करते हैं। यह ब्रह्मचर्य बल का बहुत बड़ा परिचय है। इसलिये भगवान कृष्ण की उक्ति के अन्दर **'श्रद्धया लभते ज्ञानम्'** तत्परः संयतेन्द्रियः श्रद्धावान ज्ञान को प्राप्त होता है। यह कहकर श्रद्धा व संयम की महिमा कही गई है। श्रद्धा सतोगुण का उद्रेक होता है। योगदर्शन में आरम्भ में **'अथ योगानुशासनम्'** तथा इसके बाद **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** अर्थात् चित्तवृत्ति का निरोध योग है, यह बतलाया है **चित्तवृत्तीनाम् नितरां रोधः** अर्थात् चित्तवृतियों का नितराम् रोध ही योग कहलाता है। अपने भाष्य में भगवान व्यास देव जी ने चित्त की पाँच भूमियों का वर्णन किया है तथा यह बतलाया है कि योग का प्रारम्भ कहाँ से होता है ? पहले प्रकार का चित्त मूढ़ावस्था का होता है। भेड़ा, गधा आदि प्राणी इस अवस्था के प्राणी होते हैं। उनके मन में दया धर्म नहीं होता, हिंसा और क्रोध रहा करता है। परपीड़ा में वह आनन्दित होते हैं। इन्हें आसुरि वृत्ति के लोग भी कहते हैं। इस अवस्था में चित्त को पूर्णरूप से तमोगुण ही आच्छादित कर लेता है। दूसरे प्रकार के प्राणी क्षिप्तावस्था के होते हैं। उनके रजोगुण प्रधान तथा सतोगुणों और तमोगुण गौण रहा करते हैं। असंख्य प्राणी संसार में रहा करते हैं; किन्तु वे सभी सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन प्रकृति संभव गुणों से युक्त रहा करते हैं। सतोगुण, रजोगुण आदि की भी मात्रायें होती हैं। कोई कम सतोगुणी है तो कोई ज्यादा। इसी प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का भी मात्रा भेद से विभाजन होता चला जाता है। एक जैसा स्वभाव किसी का नहीं होता। क्षिप्तावस्था के प्राणियों का यह सिद्धान्त रहता है **'यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः'** अर्थात जब तक मनुष्य जीवित रहे सुख से रहे, कर्जा उठाकर भी घी पीये। देह भस्म हो जायेगा फिर कहाँ से मिलेगा। ऐसी बातें रजोगुण वाले—प्रवृति शील लोगों के मन में रहा करती है वे इसी लोक को मानते हैं परलोक को नहीं मानते। ऐसे लोग अधर्म तथा अन्याय से भी पैसा कमाकर सुख भोगने में विश्वास रखते हैं। तीसरे प्रकार के प्राणी वे होते है जिनमें सतोगुण की प्रधानता आ जाती है। अन्य दो गुण गौण रहकर

उनके चित्त में रहा करते हैं। इसको ऐसा समझना चाहिये कि जैसे कोई महात्मा है, उसका स्वभाव बहुत ही दयालु है। परोपकारी है। किन्तु कभी न कभी क्रोध की झलक उनमें भी आ जाती है यह जो क्रोध की झलक आई वह रजोगुण के कारण आई। कभी–कभी प्रमाद आलस्य भी आ जाता है यह तमोगुण के कारण आ जाता है; किन्तु फिर भी उसमें सतोगुण प्रधान रहता है। ऐसे चित्त वाले प्राणियों को विक्षिप्तावस्था के प्राणी कहते हैं **क्षिप्ताद् विशिष्टम् विक्षिप्तम्'** अर्थात जो क्षिप्त से विशिष्ट होते हैं ऐसे व्यक्ति धार्मिक होते हैं परलोक को मानते हैं। भगवान राम को मानते हैं, कृष्ण को मानते हैं, शिव को मानते हैं, किन्तु इन्हें कैसे प्राप्त कर सकते हैं इसका उन्हें कोई रास्ता मालूम नहीं होता। वे सोचा करते हैं –**राम राम रटते रहो जब लग घट में प्राण। कबहुं तो दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान।**

वह मानता है–राम सर्व शक्तिमान हैं, कृष्ण व शिव सर्वशक्तिमान हैं उनके नाम रटने से वे मेरा भला कर देंगे। द्रोपदी ने भगवान कृष्ण को पुकारा **कृष्ण कृष्ण महा योगिन कृष्ण गोपी जन प्रियः कौरवार्णव निमग्नाम् मां किं न पश्यसि केशव।**

अर्थात् हे कृष्ण आप तो महायोगी हैं। फिर कौरवार्णव में डूबती हुई मुझ द्रोपदी को आप क्यों नहीं देख रहे हैं ? उनका महायोगिन कहने का संकेत यह था कि एक साधारण योगी भी अपने भक्तों को देख लेता है और रक्षा कर लेता है आप महायोगी हैं अतः मेरी रक्षा कीजिये। जब एक योगी एकाग्रावस्था में होता है संसार का प्राणी उसे चाहे कामना से याद करता है, क्रोध से याद करता है, प्रेम से याद करता है अर्थात् जो उसके प्रति जैसी भावनायें रखकर याद करता है, वह उस योगी को मालूम हो जाता है। उन व्यक्तियों के मनोभाव के अनुसार ही उनका सूक्ष्म शरीर वैसे–वैसे ही हरकतें करता हुए दिखाई देता है। गीता में भगवान ने –**'या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥** की बात कही है इसका अर्थ यह है कि सांसारिक लोग बाहर की वस्तुयें देखते हैं, बाहर के शब्द सुनते हैं, बाहर का स्पर्श करते हैं, किन्तु भीतरी जगत का उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। इसके विपरीत-मुनि लोग भीतरी दुनिया के अन्दर जागे हुये होते हैं। वे भीतर के नजारे देखा करते हैं, भीतर का स्पर्श पाते हैं, दिव्य रस लेते हैं, अपनी भीतरी दुनियाँ में ही मग्न रहते हैं, वे बाहर के नजारे नहीं देखा करते। उनके लिये बाहर की दुनियाँ का महत्व नहीं रहता।

किन्तु इसमें एक बात और भी है जो मैं तुम्हें कहना चाहता हूँ वह यह है कि अधिकांश समाधि लगाने वाले–भजन करने वाले रात्रि को ही भजन किया करते हैं। तीर्थ स्थानों में रहने वाले साधक चाहे हरिद्वार हो, ऋषिकेश हो, श्रीवृन्दावन हो–साधु लोग रात में ही ज्यादा अभ्यास किया करते हैं। उसका खास कारण मैंने पहले बताया था कि जब एक योगी ध्यान में बैठता है तो उस

आनन्दकन्द महाप्रभु श्री रामलाल द्वारा विराट–स्वरूप का प्रदर्शन

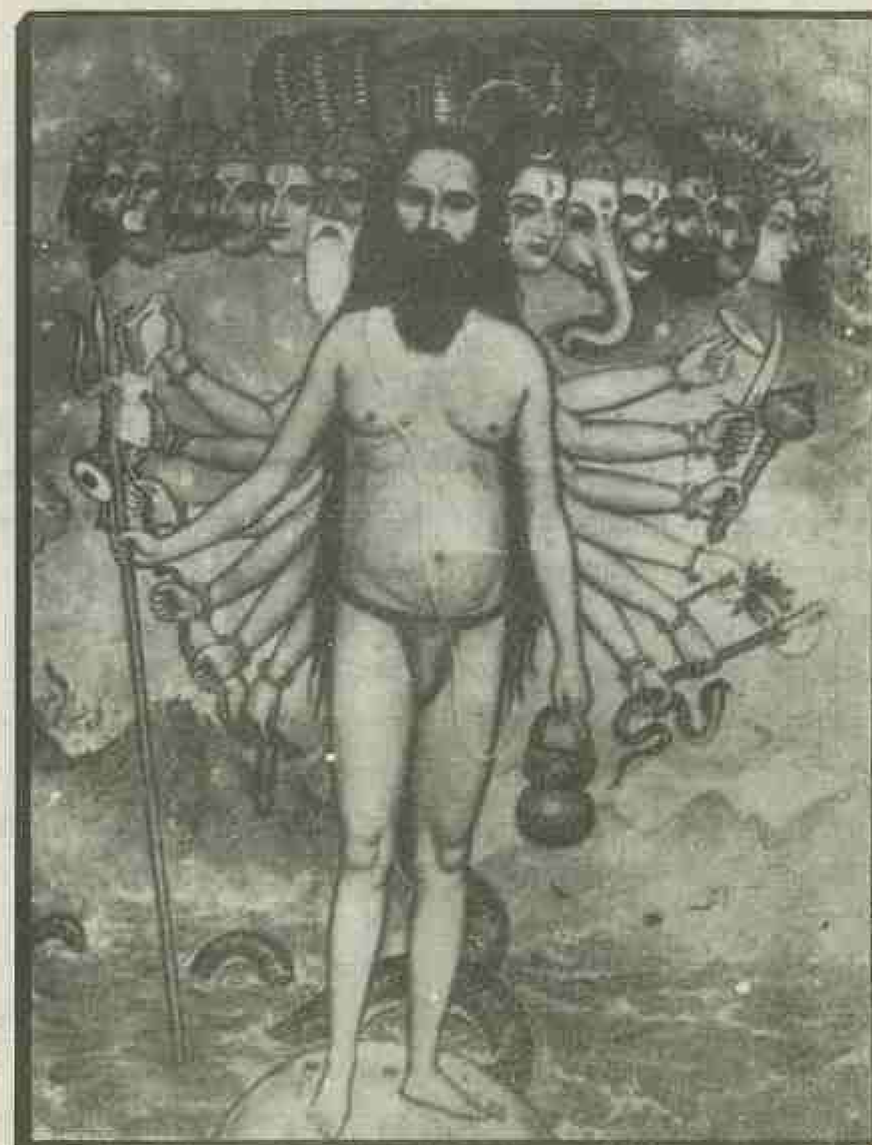

एकाग्रता में उसके सामने लागों के चित्त आया करते हैं। उस योगी के प्रति यदि कोई प्यार की भावना करता है तो उसका सूक्ष्म शरीर प्यार का अभिनय करता हुआ दिखाई दे जाता है, यदि कोई क्रोध करता है तो क्रोध का अभिनय करता हुआ दिखाई दे जाता है, जिसका जैसा-जैसा भाव उस योगी के प्रति होता है, उसका वह भाव सूक्ष्म शरीर के द्वारा योगी के सामने व्यक्त हो जाया करता है। किन्तु जो लोग रात्रि में अभ्यास करते हैं उनके सामने ये बातें नहीं आतीं। इसका कारण केवल मात्र एक है कि उन सब के मन रात्रि में सुषुप्ति में चले जाते हैं **'अभाव प्रत्ययावलम्बनम् वृत्तिर्निद्रा'** निद्रा में ज्ञान का अभाव रहता है। निद्रा प्रगाढ़ होती है। उस समय मन दब जाता है; क्रियाशील नहीं रहता। जागृत अवस्था में हमारा मन क्रियाशील रहता है। स्वप्न के अन्दर भी मन इस प्रकार के विचारों के अन्दर घूमता रहता है, किन्तु सुषुप्ति में मन दबा रहता है। उस समय मन में किसी प्रकार का भाव नहीं रहता। इसलिये योगी लोग रात्रि में ध्यानाभ्यास करते हैं। क्योंकि दुनियाँ वालों का मन उस समय अपने कारण में--सुषुप्ति में लय रहता है। इसलिये लोगों की ओर से योगी को कोई विघ्न नहीं होता। अभ्यास में अन्तराय पैदा नहीं होता। लोगों की भावनायें आती रहे तो मन में अन्तराय आ जाते हैं। मुझे एक घटना याद आई। एक बार मैं और मेरे बड़े गुरू भाई ब्रह्म. गोपालानन्द जी श्री वृन्दावन गये। वहाँ हम दोनों रात्रि में केशी घाट चले गये। दोनों अभ्यास में बैठ गये। कुछ देर बाद उन्होंने मुझसे कहा--तुम सो जाओ। मैं ध्यान में बैठा रहूँगा। मैंने कहा--भाई जी ! आप सोयेंगे नहीं। वे कहने लगे, नहीं। श्याम सुन्दर मुझ से कहते हैं कि यहाँ आकर भी तू सोयेगा ? इसलिये मैं नहीं सोऊँगा। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि यह जो सेवा कुञ्ज का दायरा इस समय देख रहे हो इससे एक-एक मील दूर तक सेवा कुञ्ज का ही दायरा है। सेवा कुञ्ज में दिव्य दृष्टि रहती है। इसलिए भाई गोपालानन्द जी ध्यान में ही बैठे रहे उन्हें दिव्य दर्शन व अनुभव होते रहे। भगवान का दिव्य तेज वहाँ व्याप्त है अतः वहाँ सांसारिक अन्तराय नहीं आया करते।

योगी जब समाधि में होता है उसकी सब वृतियाँ शान्त हो जाती है--**आपूर्यमाणम चल प्रतिष्ठ समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न काम कामी॥**

जिस प्रकार से सारे नदी नाले समुद्र में आकर विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार से योगी की समस्त वृत्तियाँ समाधि में लीन हो जाती हैं। **सः शन्तिमाप्नोति न कामकामी'** ऐसा योगी ही शान्ति को पाता है कामनाओं का चिन्तन करने वाला शान्ति नहीं पाता हमने आनन्दकन्द श्री प्रभु जी के चरणों में सूक्ष्म जगत की अनेक घटनायें देखीं हैं। अच्छे-अच्छे ध्यानी ध्यान में जो देखा करते थे वह सत्य ही होता था। एक बार मैं ऋषिकेश आश्रम में आनन्दकन्द प्रभु जी के चरणों में बैठा हुआ था। हमारे अन्य कई गुरु भाई व योगिराज मुल्खराज जी महाराज आदि भी बैठे हुये थे। हमारे ध्यानी गुरू भाईयों ने कई दिन देखा कि कोई साधु आकर श्री प्रभु जी के चरणों में

बार–बार प्रणाम कर रहा है। प्रभु जी उसे बार–बार आशीर्वाद दे रहे हैं। वास्तव में वह साधु आया नहीं था, सूक्ष्म से ही आया था। श्री प्रभु जी के चरणों में बैठे ध्यानियों ने ध्यान में देखने का प्रयत्न किया कि आखिर यह कौन साधु है जो नित्य प्रात: श्री प्रभु जी को प्रणाम करने आता है। उन्होंने ध्यान में देखा वह साधु ब्रह्मपुरी में रहता है और नित्य वहीं से श्री प्रभु जी को प्रणाम किया करता है। देखो ! जिस समय हम लोग भी ध्यान में बैठते हैं तो श्री प्रभु जी को प्रणाम करते हैं। जंगलों में जो साधु रहते हैं, उनका गुरूदेव से सम्बन्ध होता है। वे वहीं से गुरूदेव को प्रणाम करते हैं। उनका प्रणाम गुरूदेव तक पहुँचता है। ध्यानियों ने उस ब्रह्मपुरी वाले साधु को देखा कि वह रोज श्री प्रभु जी को प्रणाम करता है और प्रभु जी उसकी सहायता करते हैं इसी प्रकार एक और घटना मुझे याद आई। श्री प्रभु जी काश्मीर की यात्रा पर गये उनके साथ में श्री मुल्खराज जी महाराज तथा बहिन ऋषिदेवी आदि थी। वहाँ जम्मू के राजा हरिसिंह श्री प्रभु जी के भक्त थे। श्री प्रभु जी को उन्होंने कुछ दिन अपने यहाँ ठहराया। श्री प्रभुजी के ध्यानी बच्चे ध्यान में देखा करते थे कि एक पागल सा आदमी नित्य आकर श्री प्रभु जी के चरणों में विनीत भाव से प्रणाम करता है और प्रभु जी उसे प्यार से आशीर्वाद देते हैं। ध्यानी लोग एक दूसरे लड़के को भी देखा करते थे कि गन्द में लिबड़ा रहने वाला लड़का नित्य प्रभु जी के पास प्रणाम करने आता है और आशीर्वाद पाता है। एक दिन महाराज हरिसिंह ने श्री प्रभु जी से प्रार्थना की कि महाराज ! आज कहीं घूमने चलें। श्री प्रभु जी ने कहा–आज हम तुम्हारा पागल खाना देखेंगे। महाराज को बहुत आचर्श्य हुआ कि पागल खाना भी कोई देखने की चीज है। किन्तु गुरूदेव की आज्ञानुसार पागलखाना पहुँच गये। वहाँ एक पागल बन्द था। वह प्रभु जी को देखते ही अन्दर कोठरी से ही बार–बार दण्डवत प्रणाम करने लगा। श्री मुल्खराज महाराज आदि देखने लगे कि यह वही लड़का है जो प्रभु जी को नित्य प्रणाम करने आता है और प्रभु जी खूब प्यार करते हैं। श्री प्रभु जी ने कहा—उसे छोड़ दो यह पागल नहीं है यह योगी है। प्रभु जी की आज्ञा से उसे छोड़ दिया गया। प्रभु जी ने कहा—इस पहाड़ी पर चढ़ जाओ एवं आगे की साधना में लग जाओ। वह तुरन्त पहाड़ी पर चढ़ गया। दूसरे दिन फिर इसी प्रकार से भ्रमण पर चल पड़े। उस दिन प्रभु जी ने कहा—आज गन्दे नाले की तरफ चलते हैं। श्री प्रभु जी ने मुल्खराज महाराज को आगे भेज दिया और कहा—ध्यान में देखना जिस–जिस के चेहरे पर तेज फैल रहा हो उनसे कहना ! प्रभु जी आ रहे हैं ! श्री मुल्खराज जी आगे–आगे गये। उन्हें आगे एक लड़का मिला। गन्दे नाले में पड़ा हुआ था मल मूत्र उसके पास से बह रहा था। मक्खियाँ भिनक रही थीं। श्री मुल्खराज जी ने उसके तेज को देखकर कहा। प्रभु जी आ रहे हैं। उसने कहा— हाँ आ रहे हैं। वह ही मुझे यहाँ डाल गये थे। वह ही उठायेंगे। श्री प्रभु जी वहाँ पहुँच गये। उनके पहुँचते ही वह लड़का खड़ा हो गया और तेजी से उनके चरणों में लिपट गया। श्री प्रभु जी ने उसे उठा लिया

और उस गन्द से लिबड़े हुये को ही कण्ठ से लगा लिया। उसे आगे की साधना बता कर उसे भी सामने की पहाड़ी पर चले जाने की आज्ञा दे दी।

एक बार हमारा योग प्रचार का कार्यक्रम जम्मू काश्मीर का था। वहाँ हमें नन्दलाल नाम का योगी मिला था। उसकी वहाँ काफी प्रसिद्धि थी। हमारा यह अनुमान है कि गन्दे नाले वाला वह लड़का ही नन्दलाल था। अस्तु। मैं ये सब बातें इस बात को समझाने के लिये ही कह रहा हूँ कि जो चिन्तन शील साधक हैं वे गुरुदेव को नमन करते है उनका चिन्तन करते हैं उनका वह नमन व चिन्तन उन तक पहुँच जाता है। उस पागल ने पागल खाने में भी श्रीप्रभु जी का चिन्तन रखा और गन्दे नाले वाले ने भी चिन्तन रखा। श्री प्रभु जी को ये सब पता रही तभी तो वे पागलखाने गये, गन्दे नाले की ओर गये। ये सब उनके भीतरी ज्ञान का परिणाम है। मैं तुम्हें विक्षिप्तावस्था वाले प्राणियों के विषय में समझा रहा था। इसके पश्चात् चौथी श्रेणी के प्राणी एकाग्रावस्था के होते हैं। उनमें सतोगुण चमक उठता है। सतोगुण ही एकाग्रता का दाता होता है। एकाग्रता वाले मन में दया होती है, धर्म होता है, प्रेम एवं करूणा होती है। भगवान ने **'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'** कहा है। श्रद्धा चित्त की प्रसन्नता का नाम है। सतोगुण का उद्रेक श्रद्धा है। एकाग्रावस्था से पहले जो चिन्तन करते रहे, भजन करते रहे वह बाह्य वृत्ति को रखकर करते रहे। हम स्तुति करते हैं माला घुमाते हैं। रामाय नमः, शिवाय नमः का जप करते हैं किन्तु अनुभूति नहीं होती। **'अकरणात् करणं श्रेयः'**। कुछ न करने से करना अच्छा है किन्तु मन के एकाग्र न होने से हमें विशेष उपलब्धि नहीं हो पाती। जब मन की एकाग्रता से सतोगुण चमक उठता है तो जिसका चिन्तन करते हैं उनके दर्शन हमें होने लगते हैं इसी को **सम्प्रज्ञात योग** कहते हैं। चित्त वृत्तियों का समूलोन्मूलन तो असम्प्रज्ञात समाधि में ही होता है। व्युत्थान में अथवा समाधि से उठने के बाद जिसकी जैसी वृत्ति स्वभाव होता है, वह वैसे ही चेष्टा करता है। इसी को **'वृत्ति सारूप्यमितरत्र'** कहते हैं। गीता में भी भगवान ने **'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि'** कहा है। अर्थात् ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। इसीलिये सिद्ध योगी लोग अपने शिष्यों पर शक्ति पात करके उन्हें हिमालय में ही बैठा लेते हैं उन्हें फिर संसार में आने नहीं देते। संसार में रहेंगे तो वर–शाप के झमेले में पड़ जायेंगे और फिर पतन हो जायेगा। दूसरे शिष्य वे होते हैं जो दुनियाँ में रहते हुये गुरुदेव के पूर्ण नियन्त्रण में रह लेते हैं। गुरुदेव उन्हें यम–नियम का पालन कराते हैं। गुरुदेव के थपेड़े खाकर वे अपनी वृत्ति को इतना शुद्ध बना लेते हैं कि उन्हें क्रोध आता ही नहीं। ऐसे साधक योगी के विषय में देखने वाले कहा करते हैं–**'चण्डालः किमयम् द्विजातिरथवा शूद्रो किं तापसः'**। कोई कहता है यह चाण्डाल है कोई कहता है तपस्वी है। लोग अपनी–अपनी मति से अन्दाज लगाते हैं। किन्तु उस पर किसी का प्रभाव नहीं पड़ता है। वह न किसी के वचन पर प्रसन्न होते हैं और न ही क्रुद्ध होते हैं। इस प्रसंग में मुझे एक घटना याद आई एक बार श्री प्रभुजी ब्र. गोपालानन्द

जी पर खुश हुये। कहने लगे। गुरू बाजार में चला जा वहाँ एक नंगा साधु है देख आ। ब्र. जी उसके पास गये और उसे देखा। उसके नाक मुंह से मल बह रहा था। अपने उपस्थिन्द्रिय को पकड़े हुये पेशाब करता हुआ सा चल रहा था उसका नाम रामू था। ब्र. जी उसे देखकर प्रभु जी के पास आ गये। प्रभु जी कहने लगे। देख आये उसे ? वे कहने लगे। 'हाँ प्रभु जी देख आया वह तो बड़ी बुरी हालत में है'। श्री प्रभु जी कहने लगे क्या तुम्हें भी रामू की तरह बना दें। ब्र. गोपालानन्द जी कहने लगे– प्रभु जी वह तो बिल्कुल पागल है आप मुझे उस की तरह न बनायें। श्री प्रभु जी ने ब्र. गोपालानन्द जी को फिर भेजा। अच्छा अब तुम चौरस्ती अटारी चले जाओ वहाँ भी एक साधु है उसे देख आओ। ब्र. गोपालानन्द जी ने वहाँ जाकर उसे देखा। मल मूत्र की गली में पड़ा हुआ गन्द से लिबड़ा हुआ था। देखा भी नहीं जा रहा था। वे वापिस आ गये। श्री प्रभु जी ने कहा– देख आये ? क्या तुम्हें भी लल्लू की तरह बना दें ? गोपालानन्द जी ने उन्हें बाहरी दृष्टि से देखा था इसलिये कहने लगे–नहीं प्रभु जी। मुझे आप ऐसा न बनावें। श्री प्रभु जी ने गोपालानन्द जी से कहा–अब तू ध्यान में बैठकर इनकी स्थिति देख। ब्रह्म. गोपालानन्द जी ने ध्यान में देखा कि वे दोनों अखंड मण्डलाकार तेज में झिलमिला रहे थे। बहुत ऊँची स्थिति थी उन दोनों की। कहने का तात्पर्य यह है कि जो योगी वृत्ति सारूप्य से ऊपर उठ जाता है तो उसके लिये **शुनि चैव श्वपाके च पण्डितः समदर्शनः** की बात चरितार्थ हो जाती है। चाहे व मलमूत्र में पड़ा रहे या अन्य किसी स्थिति में उनकी आत्मिक स्थिति बनी रहती है। इसलिये जिन शिष्यों को सद्गुरू शक्तिपात कर लेते हैं उन्हें फिर हिमालय से नीचे नहीं आने देते। उपाय प्रत्यय वाले योगी जो गुरुदेव के थपेड़े खाते हुये उनके नियन्त्रण में रह लेते हैं। वे गुरू कृपा से संसार के विघ्न बाधाओं से आहत नहीं होते। वे न किसी को वर देते हैं और न किसी को शाप देते हैं। इस प्रकार के योगियों के लिये योगदर्शन मे महर्षि पतञ्जलि जी ने एक बात का संकेत दिया है–

'मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। अर्थात् योगी को चाहिये कि वह सुखी व्यक्ति से मैत्री भाव रखे। दुःखी व्यक्ति के प्रति करूणा भाव रखे। पुण्यात्माओं को देखकर प्रसन्न रहे और पापी को देखकर उपेक्षा करे।

जो गुरुदेव के नियन्त्रण में रहकर अपनी कठोर वृत्तियों पर अधिकार पा लेता है वह पतन से परे हो जाता है। मैत्री आदि के भाव उस योगी के स्वभाव के अन्दर आ जाते हैं।

इसलिये गुरूदेव के नियन्त्रण में रहकर साधक को चाहिये कि अपनी वृत्तियों पर अधिकार करें और उत्तरोत्तर साधना में बढ़ता चला जाये। तभी वह योग के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है।

***

सम्पादकीय

योग साधना ही आवश्यक क्यों ?

सृष्टि के आदि से ही मनुष्य ने अपने बन्धन और दुःख पर विचार किया है और इसके परिहार का भी उपाय ढूंढा है। **'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'** के नियमानुसार मनुष्य की बुद्धि में भिन्न–भिन्न विचार रहते हैं और मनुष्य उन विचारों के अनुसार चला करता है। इसके परिणाम स्वरूप ही संसार में अनेक धर्म, मत, संप्रदाय चले आ रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य ने परमार्थ की राह पकड़ने का प्रयास किया है। अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य यज्ञ, दान, तप एवं तीर्थ सेवन करता है। **'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्'** के अनुसार यज्ञ, दान, तप मनुष्य को पावन बनाने के ठोस उपाय हैं। ये सब साधन निश्चित रूप से पुण्य बढ़ाने के साधन हैं। पुण्य संचय के फलस्वरूप मनुष्य को सुख, उत्तम पद, स्वास्थ्य एवं उत्तम पदार्थ एवं दीर्घायु प्राप्त होती है।

यज्ञ पुण्यार्जन का साधन तो है किन्तु पुण्य एकत्रित करना भी बहुत कठिन कार्य है। यज्ञों के नाना भेद भगवान ने गीता में बताये हैं—

द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञ: योग यज्ञास्तथापरे
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतय: संशितव्रता:

अर्थात्—द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ ये पाँच प्रकार के यज्ञ मनुष्यों द्वारा किये जाते हैं। यज्ञ का बहुत व्यापक अर्थ होने के कारण ही वेदों में **'यज्ञो वै विष्णुः'** यज्ञ को विष्णु का स्वरूप माना जाता है। ऋषियों ने योग साधना को **'अध्यात्म योग'** के नाम से अभिहित किया है। इस ध्यान योग रूपी अखण्ड यज्ञ को योगी अहर्निश किया करते हैं। अध्यात्म यज्ञ को छोड़कर अन्यज्ञ द्रव्यमूलक होने के कारण अल्प फल वाले कहे जाते हैं। इन यज्ञों को करते हुये मनुष्य भौतिक शरीर को त्यागकर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गादि देवलोकों को प्राप्त किया करता है। पुण्य समाप्त होने पर वे पुनः मृत्युलोक में भेज दिये जाते हैं। थोड़ा पुण्य उनका शेष रहता है इस कारण से मनुष्य जीवन में सुख सुविधा रूप सौन्दर्यादि भौतिक पदार्थ उन्हें सहज प्राप्त रहते हैं। स्वर्गीय भोगों की तृष्णा रहने के कारण चित्त की चंचलता उनकी बनी रहती है। कभी–कभी स्वर्गीय सुखों की तलाश में भटकता हुआ वह व्यक्ति अनाचार के मार्ग में प्रवृत्त होकर श्रेय मार्ग से गिर जाया करता है। उसके चित्त में योगाभ्यास—योगध्यान—के संस्कार न होने के कारण वह सुख सुविधाओं के बावजूद भी साधना में प्रवृत्त नहीं होता। यह द्रव्य यज्ञ करने वालों की भांति हुआ करती है। ध्यानयोग का अभ्यासी भी प्रायः देहपात के पश्चात उत्तम देवलोकों को प्राप्त हुआ करता है। क्योंकि अभी उसे पूर्णत्व की स्थिति नहीं मिल पाई है। ऐसे साधक कल्पों तक वहाँ समाधि सुख में मग्न रहा करते है। और देव शरीर त्यागने के पश्चात पुनः पृथ्वी लोक में आते है। यहाँ पर शुद्ध संस्कार वाले साधक सम्पन्न परिवार में उनका जन्म होता है। और योगज संस्कारों के वशीभूत वे फिर बाल्यकाल से ही साधना में प्रवृत्त हो जाया करते हैं। इस प्रकार से ऐसे साधक कल्याण के मार्ग पर चलते रहा करते है। यज्ञों की भांति ही मनुष्य दान के कार्यों में लगा रहा करता है। दानकर्ता के मन में प्रायः 'लोकैषणा' रहा करती है। वह चाहता

है उसके नाम का बोर्ड लगे, उसकी जगह–जगह प्रशंसा हो, सभाओं में उसे ऊँची कुर्सी मिले आदि–आदि। इस प्रकार से वे लोग दान के फल को भी साथ–साथ ही ले लिया करते हैं। यदि ये बातें नहीं भी हों तो भी उसे सामान्य स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है। इससे अधिक नहीं। सात्विक दान का फल स्वर्ग के रूप में मिलता है। राजसी–तामसी दान का फल प्रायः या तो मिलता नहीं है अथवा यहीं पर ही किसी न किसी रूप में मिल जाता है।

पुण्यार्जन की श्रृंखला में ही तप व त्याग की परम्परा धार्मिक समाज में प्रचलित है। हिन्दू धर्म तपप्रधान धर्म है। हमारे धर्मग्रन्थों में कठोर तपों एवं व्रतों का उल्लेख मिलता है। ये तप मुख्यतः दो उद्देश्य से किये जाते हैं। एक तो यह कि मनुष्य अपने पाप कर्मों के क्षय करने के लिये प्रायश्चित के रूप में इन तपों व व्रतों को करता है। दूसरा विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिये किये जाने वाले तप व अनुष्ठान होते हैं। तप तो दैत्यों ने भी बहुत कठोर किये, उन्हें फल भी मिला किन्तु क्षणिक ही रहा क्योंकि उन्हें तप से वरदान मिले और उसका उन्होंने दुरुपयोग किया। फलतः पुण्य क्षीण होकर उनका पतन ही हुआ।

योग साधना में तप का स्वरूप और अधिक गूढ़ है। यहाँ पर तप करना इसलिये आवश्यक माना जाता है ताकि साधक अपने शरीर, प्राण एवं मन को साधनानुकूल बना सके। योग साधना के प्रथम और द्वितीय सोपान यम–नियम तप के ही रूप हैं। पतञ्जलि जी महाराज ने इन्हें सर्व प्रथम रखा ही इसलिये है क्योंकि इनका पालन जिस सावधानी से व्युत्थान दशा में आवश्यक है उसी प्रकार से एकाग्रावस्था में भी आवश्यक है। अन्यथा एकाग्र किये चित्त से थोड़ा भी अनिष्ट चिन्तन किसी का हो जाये तो उससे हानि होती है। इसलिये यम–नियम का तप ही वह उपाय है जिससे साधक साधना पूँजी को सुरक्षित रख सकता है। यम–नियम योगियों की आचार संहिता है। इनका सदुपयोग व्यावहारिक जीवन में भी आवश्यक है वहाँ पर वे सदाचार का रूप लेकर मनुष्य को पतित होने से बचाते रहते हैं।

यौगिक तप से शरीर तथा इन्द्रियों के समस्त मल जल जाया करते हैं। परिणाम स्वरूप योगी को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियाँ अथवा विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। त्याग को भी तप का ही अंग माना जाता है। गृह त्याग, सम्बन्धियों का त्याग पदार्थों का त्याग, वस्त्र एवं दण्ड कमण्डल का त्याग वस्तुतः त्याग नहीं है। योग की भाषा में त्याग का अर्थ है मन को **'सन्यस्त संकल्प'** बनाना। अर्थात् मन को संकल्प विकल्प रहित बना देना ही त्याग का स्वरूप है। गीता में भगवान ने स्पष्ट संकेत किया है 'न हि ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन' कोई भी संकल्प–विकल्पों के त्याग बिना योगी नहीं बन सकता। संकल्प–विकल्प के त्याग से **'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम'** की स्थिति आती है। संकल्प–विकल्प के त्याग के लिये ही योगी चित्त वृत्तियों का निरोध करता है।

वेदाध्यायियों की लम्बी श्रृंखला में वेदाध्ययन एवं पारायण करने वालों की अपनी साधना है। ऐसे साधक वेद विहित नाना सकाम अनुष्ठान में संलग्न रहा करते हैं। वस्तुतः वेदाध्ययन एवं श्रवण भी आत्मदर्शन का साक्षात् हेतु नहीं है। वेद श्रवण एवं अध्ययन से परमात्म सम्बन्धी जो ज्ञान उदित होता है उसे परोक्ष ज्ञान कहा जाता है। आत्म दर्शन अपरोक्षानुभूति से ही हो सकता है। यह अपरोक्षानुभव बिना ध्यानयोग के कदापि संभव नहीं है।

मनुष्य को तप, दान, यज्ञ, शास्त्रश्रवण व पाठ तीर्थाटन के फल संवेग को जानना चाहिये। अर्थात् उनकी कहाँ तक गति है—ये हमें कहाँ तक पहुँचा सकते हैं। इस पर विचार करना चाहिये। योग की पराकाष्ठा तक पहुँचने के लिये हमें 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' एवं विवेक ख्याति की आवश्यकता पड़ती है। विवेकख्याति ही हमें योग की पराकाष्ठा तक पहुँचाता है। अन्य साधनों की अल्प सामर्थ्य के कारण ही भगवान ने गीता में कहा है—कि वेद, यज्ञ, दान एवं तप का जो फल मिलता है योगी उन सब फलों को लांघकर परम धाम का अधिकारी बनता है।

योगी का लक्ष्य रहता है वह स्थूल पदार्थों का साक्षात्कार करके फिर सूक्ष्म पदार्थों की ओर बढ़े। युक्त योगी के लक्षण बताते हुये गीता में भगवान बतलाते हैं—

'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः'।

अर्थात् पहले योगी प्रकृति का साक्षात्कार करें व उसे वश में करें पश्चात आत्मदर्शन से युक्त होने पर 'विज्ञान तृप्तात्मा' बन जाये। प्रकृति पुरुष के भेद को किस साधन से जान पायेगा इस बात का संकेत करते हुए भगवान ने गीता में कहा है—

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोर्शनमन्तरं ज्ञान चक्षुषा।
भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।

अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—पुरुष और प्रकृति, स्थूल प्रकृति, बन्धन एवं मोक्ष को जो ज्ञान चक्षु से जान लेता है वह परम धाम को पा जाता है। भगवान के इन शब्दों में योग के लक्ष्य और स्वरूप को बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। सम्पूर्ण योग शास्त्र की चर्चा की समाप्ति इसी श्लोक में ही हो जाती है। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि विश्व के समस्त सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान, ज्ञान चक्षु से ही हो सकता है। यह ज्ञान चक्षु योग साधना से ही खुला करते हैं। ज्ञान चक्षु के खुलने पर ही अविद्या ग्रन्थि का भेदन हो पाता है। योग ध्यान से ही ब्रह्मज्ञान होता है। इस ज्ञान की अतुलित महिमा शास्त्र गाते हैं।

अनूश्वमेध सहस्राणि वाजपेयशतानि च
ब्रह्मज्ञान समं पुण्यं कलां नार्हति षोडषीम्।

अर्थात् सहस्त्र सहस्त्र अश्वमेध यज्ञ, सैंकड़ों वाजपेय यज्ञ ब्रह्मज्ञान के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है। यज्ञ, दान, तप, तीर्थादि सुख सद्गति के साधन हैं किन्तु आत्म दर्शन के लिये योग ही सक्षम है योग साधन भी है और साध्य भी है। योग की पूर्णता कर लेने पर कोई भी वस्तु फिर ज्ञातव्य, द्रष्टव्य और प्राप्तव्य नहीं रह जाता उस समय योगी कहता है—

ज्ञातं ज्ञातव्यमाखिलं द्रष्टा द्रष्टव्य दृष्टयः।
तत्प्राप्तमधुना येन नाप्राप्तमवशिष्यते।।

'योगात् योगं प्रवर्तते' योग से ही योग की प्राप्ति होती है। आत्मदर्शन का एक मात्र उपाय योग है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह योग मार्ग की महिमा को समझे और उस दिव्य मार्ग पर चलने का प्रयत्न करे जो मनुष्य के सब प्रकार से कल्याण का मूल उपाय है। ***

श्री परशुराम वंदना

पं. महेश बौहरे, ज्योतिर्विद (गुना)

जयति जय परशुराम भगवान, ब्रह्मर्षि ब्रह्मशक्तिधारी।
योग–तप, बुद्धि–विवेक निधान, ब्रह्मकुलहित भूअवतारी।।१।।
जयति जय परशुराम भगवान.....

आपका त्रयलोकी यशगान, ब्रह्मकुल मुद–मंगलकारी।
आपका दुष्ट–दलन–अभियान, ब्रह्मकुल–कुशल, अभयकारी।।२।।
जयति जय परशुराम भगवान.....

आपके शिव आराध्य प्रधान, आप शिर जटा–जूट धारी।
आपका तप तेजस्व महान, आप मृगचर्म भस्म धारी।।३।।
जयति जय परशुराम भगवान.....

आपसे शास्त्र, शस्त्र सम्मान, धर्महित बने धनुर्धारी।
आप हैं त्रिकालज्ञ महान, योग–बल–वीर प्रलयंकारी।।४।।
जयति जय परशुराम भगवान.....

धनुर्धर, परशुराम, प्रभुराम, परस्पर मिले धनुर्धारी।
आत्म को हुआ ब्रह्म का ज्ञान, अलौकिक अनुपम सुखकारी।।५।।
जयति जय परशुराम भगवान.....

श्री परशुराम जयति

त्रिबल शुद्ध दाम्पत्य जीवन

ज्योतिर्विद् पं. महेश बोहरे, गुना (म.प्र.)

परस्पर सामंजस्य एवं सुख–समृद्धिपूर्ण दाम्पत्य जीवन ही स्वस्थ समाज की संरचना में सहायक हो सकता है। पारस्परिक समन्वय एवं वैचारिक सामंजस्य का अभाव, दांपत्य जीवन को ही दूषित नहीं बनाता अपितु उससे संतति सृजन एवं सृष्टि संरचना भी प्रतिकूल रूप से प्रभावित होती है।

युवा–युवती दाम्पत्य जीवन में अग्रसर होने के साथ ही सपनों की स्वर्णिम दुनिया संजोने में लग जाते हैं, किंतु सपनों की स्वर्णिम दुनिया को साकार करने के लिये दाम्पत्य जीवन की इस गाड़ी को संचालित करने में पति–पत्नि दोनों की संयुक्त भूमिका आवश्यक है। पति का पुरुषार्थ एवं पत्नि का सौभाग्य जब दोनों की पारस्परिक संयुक्त मानसिकता के एक सूत्र में बंध जाते है तो दाम्पत्य जीवन निश्चय ही सुख–समृद्धि की ओर सहज ही अग्रसर होता है।

ज्योतिषीय दृष्टिकोण से दाम्पत्य जीवन में प्रवेश के लिये युवा–युवति की त्रिबल शुद्धि होना अत्यन्त आवश्यक है। इस त्रिबल शुद्धि में युवा (पतिपक्ष) के लिये सूर्यबल प्राप्त होना आवश्यक है, क्योंकि जीवन में सूर्य ही पुरुषार्थ, प्रतिष्ठा एवं पराक्रम का कारक है इसलिये पुरुष पक्ष के लिये सूर्य की प्रबलता दाम्पत्य निर्वाह में अत्यावश्यक है, इसका विचार जन्मराशि में किया जाना चाहिये, यथा—

जन्मराशेस्त्रिषष्ठायदशमेषु रविः शुभः।
पश्चात् त्रयोदशशिभ्यो द्विपंचनवमेष्वपि।।

अर्थात् विवाह के समय जन्मराशि से ३, ६, १०, ११ वें रवि शुभ होते हैं, यदि रवि, राशिगत १३ अंश से अधिक हो जाय तो २, ५, ९ वें रवि भी शुभ होते हैं।

जन्मन्यथ द्वितीये वा पंचमे सप्तमेऽपि वा।
नवमे च दिवाना थे पूजया पाणिपीड नम्।।

अर्थात विवाह के समय वर की राशि से १, २, ५, ७– एवं ९ वें सूर्य हों तो शास्त्र सम्मत आराधन के बाद शुभफल कारक रहते हैं। इसके अतिरिक्त—

अष्टमे च चतुर्थे च द्वादशे च दिवाकरे।
विवाहितो वरो मृत्युं प्राप्नोत्यत्र न संशयः।।

अर्थात् विवाह के समय युवक (वर) की राशि से ४, ८, एवं १२ वें सूर्य हो तो निःसन्देह वर की मृत्यु होती है।

इसी तरह युवति (पत्निपक्ष) के लिये गुरु (बृहस्पति) का बल प्राप्त होना आवश्यक है, क्योंकि

बृहस्पति सुख–सौभाग्य एवं सदाचार का कारक है, इसलिये दाम्पत्य जीवन में नारी के सुख–सौभाग्य एवं सदाचार के लिये बृहस्पति की प्रबलता भी अत्यन्त आवश्यक है, इसका विचार भी जन्मराशि से ही किया जाता है।

वटुकन्याजन्मरा शेस्त्रि कोणायद्विसप्तग:।
श्रेष्ठो गुरुः खषट्त्र्याद्ये पूजयान्यत्र निन्दित:।।

अर्थात् विवाह के समय कन्या की जन्मराशि से २,५,९,७ एवं ११ वें बृहस्पति शुभ होते है, तथा १०,६,३,१ जप–आराधन से शुभ व अन्यत्र अशुभ। यथा–

अष्टमे द्वादशे वापि चतुर्थे वा बृहस्पतौ।
पूजा तत्र न कर्तव्या विवाहे प्राण नाशक:।

अर्थात् विवाह के समय कन्या की राशि से ४,८ एवं १२ वें गुरु हों तो प्राणनाशक होने से विवाह में वर्जित है।

पति–पत्नि के दांपत्य जीवन में परस्पर मानसिक सामंजस्य के लिये दोनों को चंद्रबल प्राप्त होना भी अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि चन्द्र मन का कारक है। चंद्र शुद्धि पर ही दांपत्य जीवन में परस्पर स्वस्थ्य मन: स्थिति के द्वारा पारस्परिक सामंजस्य एवं स्निग्ध स्नेह की जागृति होती है:

जन्मराशेस्त्रिषष्ठाद्य–सप्तमायखसंस्थित:।
शुद्धचंद्रो द्विकोणस्थ: शुक्ले च अन्यत्र निन्दित:।।

अर्थात् युवा–युवति दोनों की जन्म राशियों से ३,६,१,७,१०,११, वें चंद्र विवाह के समय शुभफलकारक होते है, २,५ एवं ९ वें चन्द्र शुक्लपक्ष में शुभ रहते है, ४,८ एवं १२ वें चन्द्र अशुभ एवं नेष्ट फलकारक होते है।

इस प्रकार पुरुषार्थ सौभाग्य एवं स्निग्ध स्नेह की संयुक्त प्रबलता, दांपत्य जीवन को सुख–समृद्धि युक्त बनाकर सृष्टि संरचना के लिये प्रेरित करके स्वस्थ्य समाज की संरचना में अत्यन्त ही आवश्यक है। गर्गमुनि ने भी यही दर्शाया है:–

स्त्रीणां गुरुबलं श्रेष्ठं पुरुषाणां रवर्बलम्।
तयोश्चंद्रबलं श्रेष्ठमिति गर्गेण भाषितम्।।

विवाह संस्कार में त्रिबल शुद्धि के लिये अन्य आचार्यों ने भी यही सम्मति दी है, इसलिये शास्त्र सम्मति ही हमारी संस्कृति है तथा शास्त्र सम्मत आचरण ही हमारा सदाचार है। शास्त्र एवं संस्कृति के अनुरूप संपन्न किये गये संस्कार के बाद ही हम संस्कारवान बनकर संस्कारित संतति के द्वारा संस्कारित समाज की स्थापना कर सकते हैं।

समाज में समयोचित शास्त्र सम्मत संस्कारों के लिये प्रेरित करने एवं उन्हें सम्पन्न कराने के दायित्व

का निर्वाह ब्राह्मण समाज ने सदैव अग्रणी रहकर ही किया है किंतु वर्तमान में ब्राह्मण समाज की उदासीनता के फलस्वरूप आज हर स्तर पर संस्कारहीनता एवं सामाजिक प्रदूषण व्याप्त हो रहा है. अनियन्त्रित दहेजप्रथा, मद्यपान, युवानर्तन, वरमाला प्रथा, सामूहिक विवाह सम्मेलन एवं संयुक्त स्वरूचिभोज हमारी वर्तमान संस्कारहीनता के ही उदाहरण हैं।

शास्त्र सम्मति अनुसार संस्कारित लौकिक जीवन के लिये षोड़श संस्कारों का विधान है जिसमें विवाह संस्कार एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण संस्कार है, क्योंकि इसी संस्कार के बल पर सृष्टि की संरचना के द्वारा संस्कारित स्वस्थ्य समाज की रचना होती है, किन्तु हम यही संस्कार शास्त्र सम्मति के प्रतिकूल स्वेच्छाचारिता के बल पर करके दम्पति के दांपत्यजीवन को ही नहीं अपितु संपूर्ण सृष्टि संरचना को दूषित करने के दोषी बन चुके हैं।

वर्तमान सामाजिक प्रदूषण एवं संस्कारहीनता से संस्कृति एवं शास्त्र सम्मति की रक्षा के लिये संकल्पित होकर संयुक्त रूप से समाज में, शास्त्र सम्मत संस्कार अभियान प्रारम्भ किया जाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है शास्त्र विरुद्ध विवाह संस्कार, आचरणहीन प्रदूषित आयोजनों एवं कार्यक्रमों का समाज में खुलकर विरोध एवं बहिष्कार किया जाना चाहिये। विवाह संस्कार में द्वाराचार एवं त्रिबल शुद्ध विवाह लग्न की शास्त्र सम्मत मर्यादाओं का मुख्य रूप से पालन किया जाना चाहिये, तभी हम त्रिबलशुद्ध दाम्पत्य जीवन के द्वारा फिरसे एक सुसंस्कारित स्वस्थ्य समाज की छवि प्राप्त करके देश हित में शास्त्र और संस्कृति की रक्षा कर सकेंगे।

***

जीवन्तं मृतवन्मन्यै देहिनं धर्मवर्जितम्।
मृतो धर्मेण संयुक्तो दीर्घजीवी न संशयः।।

—चाणक्य

धर्माचरण से रहित मनुष्यों को मैं जीवित रहते हुए भी मरे हुए के समान मानता हूँ। धर्माचरण करने वाला मर कर भी जीवित रहता है, इसमें कोई शक नहीं क्योंकि उसका नाम और यश अमर रहता है।

"श्री प्रभुलीलायें"

प्रेषकः—केशव देव उपाध्याय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश के एटा जिला अन्तर्गत नगला सकत एक ग्राम है। इसी ग्राम के ठाकुर सुरेन्द्र सिंह जी को अकारण दयालु श्री सद्‌गुरुदेव जी महाराज ने अपनी लीलावसान् पच्चीस जून सन् उन्नीस सौ नब्बे के करीब चार साल बाद सन् उन्नीस सौ पंचानबे में स्थूलरूप से प्रकट होकर गुरुदीक्षा प्रदान की थी। इस अलौकिक एवं अद्‌भुतकृपा दीक्षा के फलस्वरूप इस क्षेत्र में श्री प्रभु जी की कृपा कथाओं का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। इन कृपा कथाओं के निमित्त बनने का श्रेय आराध्यदेव श्री सद्‌गुरुदेव जी महाराज ने हमारे आदरणीय गुरूभाई मास्टर श्री नाथूराम जी शर्मा को प्रदान किया। जिनकी जीवन ज्योति माह दिसम्बर उन्नीस सौ अट्ठानवे में श्री प्रभु जी की अखण्ड ज्योति में समाहित हो गयी। एटा जिले के इस क्षेत्र पर श्री प्रभु जी की तब से लगातार अब तक विशेष कृपा है एवं नित्य नयी अहैतुकी कृपायें हो रही हैं। बानक कुछ इस प्रकार बना है कि इस इलाके के तीन ग्रामों नगला सकत, उल्दापुर एवं सिड़रमई में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय रविवारों को क्रमशः श्री लटूरी सिंह जी, श्री जगदीश शर्मा जी एवं श्री भंवरपाल सिंह के घर पर सायंकाल तीन बजे से साढ़े पांच बजे तक सत्संग का कार्यक्रम अनवरत चलता है। सत्संग का कार्य आरम्भ करते समय यहाँ के हमारे गुरूभाई, बहन सर्वप्रथम सामूहिक आरती करते हैं। तत्पश्चात् भजन कीर्तन का कार्यक्रम आरम्भ होता है।

अक्टूबर माह सन् १९९८ को उल्दापुर-ग्राम के श्री जगदीश शर्मा जी के मकान पर दूसरे रविवार के दिन सत्संग का कार्यक्रम आरम्भ करने के लिये आरती आरम्भ होने से पूर्व श्री शर्मा जी की पुत्र बधू का भाई जिसका नाम श्री राजेश शर्मा है आ गया। सत्संग वाले दिन जिसके घर पर यह आयोजन होता है उसका मन श्री प्रभु जी के चरण कमलों का बार-बार स्मरण एवं चिन्तन करता रहता है एवं दुनियादारी के कार्यों में मन नहीं लगता। इसी सिद्धान्तानुसार श्रीमती शर्मा जी ने अपने सहोदर भाई श्री राजेश से ऊपरी मन से बातें की एवं कहा कि भैया किसी दूसरे दिन भविष्य में आना, फिर शान्त मन से वार्तालाप करेंगे। श्री राजेश समझदार बालक है अतः वह अच्छी प्रकार से समझ गया कि उसकी बहन आज सत्संग के अलावा कोई और बात नहीं करना चाहती, अतः वह उसी समय जाने को तैयार हो गया। परन्तु उसकी बहन ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया कि सत्संग की पहली आरती करने के पश्चात् ही अपने जाने का कार्यक्रम बनाना एवं अपनी स्वेच्छानुसार चले जाना, इसके बाद फिर हमसे पूछने की आवश्यकता नहीं है।

निर्धारित समय पर सत्संग आरम्भ करने वाली आरती खूब विधि विधान से की गयी। आरती समाप्त होने पर सभी लोगों ने प्रणाम करके जयकारे लगाये एवं इस प्रकार सत्संग प्रारम्भ हुआ। सत्संग आरम्भ होते ही राजेश भी स्वरूपों को प्रणाम निवेदित कर अपने घर को चलता बना। उल्दापुर गाँव के बाहर वह आ गया जहाँ एक नहर बहती है। एवं रास्ते के एक तरफ एक शीशम का विशाल वृक्ष स्थित है। इसी के समीप हमारे आदरणीय गुरूभाई श्री कालीचरण जी का पानी का नल लगा है। यहाँ पहुँच कर श्री राजेश ने शीशम के वृक्ष के नीचे बैठे दो दिव्य वेशधारी महापुरुषों को देखा। इन महापुरुषों के स्थूल शरीर से इतना तेज निकल रहा था कि उसने अनायास ही बाबा जी प्रणाम, बाबा

जी प्रणाम इन शब्दों का उच्चारण किया। महापुरुष द्वय ने उसे मधुर मुस्कान के साथ आशीर्वाद दिया। उसमें एक महापुरूष जिनके बाल सफेद हो गये थे धोती–कुर्ता पहने हुये थे एवं नाटे कद का गठीला शरीर था। हाथ में छड़ी लिये हुये थे एवं एक महात्मा जो भरे–पूरे शरीर से लम्बे कद के थे, लंगोट पहने हुये थे तथा उनके हाथ में चिमटा था। श्री राजेश काफी देर तक अपलक नेत्रों से योगी द्वय का दर्शन करता रहा एवं उसका ध्यान तब भंग हुआ जब छोटे महात्मा ने कहा कि लल्ला, "क्या तुम सत्संग से आ रहे हो ? श्री राजेश ने कहा, "हाँ, महात्मा जी मैं सत्संग से ही आ रहा हूँ।" "क्या वहाँ नगला सकत के मेरे बच्चे ठाकुर सुरेन्द्र सिंह हैं" छोटे महात्मा ने प्रश्न किया। श्री राजेश ने विनीत भाव से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज जी सत्संग मे हमारी बहन के परिवार के अलावा लगभग चालीस स्त्री–पुरुष उपस्थित हैं। इसके बाद बड़े शरीरधारी महात्मा जी ने कहा कि क्या तुम हमें उस सत्संग में पहुँचा दोगे। हम लोग उसी सत्संग के कार्यक्रम में सम्मिलित होने आये हुये हैं, परन्तु रास्ते से अनभिज्ञ हैं। उनकी अमोघ वाणी को वह इन्कार नहीं कर सका। उसने कहा कि हाँ चलिये महाराज जी, मैं आप लोगों को सत्संग स्थल तक पहुँचा दूँ। इस वार्तालाप के दौरान श्री राजेश अच्छी प्रकार समझ गया था कि ये वही दोनों सिद्ध समर्थ पूर्ण योगेश्वर हैं जिनके स्वरूपों को खूब अच्छी प्रकार फूल–मालाओं से सुसज्जित कर ऊँचे स्थान पर विराजमान करके उनके सामने फर्श पर नीचे बैठकर भजन–कीर्तन का कार्यक्रम चल रहा है। इस कारण उसके मन में इस बात की प्रसन्नता थी कि जिन स्वरूपों को इतना मान–सम्मान एवं श्रद्धा अर्पित की जा रही है, यदि मैं उनके स्थूल शरीरों को साथ लेकर बहनोई के घर पहुँचता हूँ तो मेरे बहन–बहनोई के साथ सत्संग में उपस्थित समूचा समुदाय अत्यधिक आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। इसी मनोदशा का अनुभव करते हुये वह इन महाशक्तियों को साथ लेकर चला।

श्री राजेश के पास साइकिल थी, अतः वह साइकिल हाथ में लेकर आगे–आगे पैदल चल रहा था, उसके पीछे अखण्ड कोटि ब्रह्माण्ड नायक दादा गुरूदेव जी एवं उनके पदचिन्हों पर सबसे पीछे सर्व समर्थ आराध्यदेव जी चल रहे थे। पन्द्रह बीस मिनट पश्चात् वह उस स्थल पर पहुँच गया जहाँ आध्यात्मिक सत्संग चल रहा था। उसने घर के बाहर साइकिल खड़ी की एवं यह कहकर की आप लोग हमारे साथ आइये, मकान के अन्दर प्रवेश किया उसने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि वे लोग उसके पीछे–पीछे उसके बहन–बहनोई के घर में प्रवेश कर रहे हैं। उसने सत्संग का जो दृश्य देखा तो उसे अनुभव हुआ कि सभी आत्म विभोर है। उसने काफी प्रयत्न करके (शरीर हिला डुलाकर) अपनी बहन की स्वाभाविक अवस्था लायी एवं कहा कि बहन जिनकी फोटो की आप लोग पूजा अर्चना कर रहे हो उनको मैं साथ लाया हूँ। उसकी इन बातों को सुनकर थोड़ी देर के लिये सत्संग थम गया। उसने दोबारा फिर सबको यह रहस्य बतलाया कि इन स्वरूपों के मूलदेव ने तो हमारे साथ ही घर मे प्रवेश किया है। थोड़ी देर के लिये कहाँ है–कहाँ है ? हमारे गुरूदेव एवं श्री प्रभु जी कहाँ है ? उसने कहा कि हमारे साथ ही घर मे उन्होंने प्रवेश किया है, हो सकता है दालान में रूक गये हो ! सबके साथ वह उन दिव्य शक्तियों को ढूढते हुये दालान में आया, वहाँ नहीं मिले तो मकान के बाहर आया, जहाँ सायकिल खड़ी की थी। परन्तु वे कहीं नहीं मिले। साधक मण्डल पश्चाताप करता रहा परन्तु अपना संकल्पित कार्य करके दोनों शक्तियाँ तिरोहित हो गयीं थीं।

इस कृपा प्रसंग के एक महीने के अन्तराल पर घटित होने वाली दूसरी घटना का कथानक इस प्रकार है। उपरोक्त स्थान पर ही श्री काली चरण जी के ग्यारह वर्षीय सुपुत्र, जो खेत घूमने गया था देखा कि एक काली दाढ़ी एवं एक सफेद दाढ़ी के महात्मा नल पर खड़े हैं। काली दाढ़ी के महात्मा स्नान करके अपना शरीर पोंछ रहे हैं एवं सफेद दाढ़ी के महात्मा उनका कपड़ा धोने के बाद स्वयं स्नान कर रहे हैं। बालक ने अपनी सहज चपलता वश प्रश्न किया, ''आप लोग महात्मा हैं एवं नल मालिक हमारे पिता जी की बिना अनुमति के स्नान कर रहे है ?'' श्री आराध्यदेव जी ने कहा, ''महात्मा तो हम लोग है ही, इसलिए अनुमति की क्या आवश्यकता। काली चरण हमारा शिष्य है एवं हम उसके ही नल पर स्नान कर रहे है।'' इतना सुनकर उस बच्चे ने तुरन्त कहा, ''क्या आप लोग सवाई धाम के गुरुदेव एवं दादा गुरुदेव हैं।'' श्री गुरुदेव भगवान ने अपनी मनोहारी मधुर मुस्कान से कहा, ''छोटे लल्ला, हम लोग सवाई धाम के ही बाबा है।'' उसके पश्चात् बच्चे ने कहा कि आप लोग यही रहना मैं अपने पिताजी, ताऊ जी, बाबा जी तथा परिवार के सभी सदस्यों को बुलाकर ला रहा हूं। मधुर मुस्कान के साथ श्री प्रभु जी ने कहा, ''लल्ला ! बहुत जल्दी आना, देर की तो हम लोग चले जायेंगे।'' ग्यारह वर्षीय यह बालक दौड़ा-दौड़ा अपने पिताजी एवं परिवार के सदस्यों को बुलाने आठ-दस मिनट में अपने घर पहुँच गया। परन्तु संयोग ऐसा था कि घर पर न तो उसके पिताजी उपस्थित थे, न ताऊ जी और न तो उसके बाबा जी ही। वह गांव में घूम-घूम कर अपने पारिवारिक सदस्यों को ढूढ़ता रहा एवं करीब पैंतालीस मिनट बाद सबको जुटा कर नल पर लाया। लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी थी और वे दोनों लीलाकर्ता अन्तर्ध्यान हो गये थे।

श्री जगदीश शर्मा जी हमारे आदरणीय गुरूभाई स्वर्गीय मास्टर श्री नाथू राम जी के सहोदर भाई हैं। आर्थिक विपन्नता होने के कारण यद्यपि श्री नाथूराम जी अपने मकान में सत्संग नहीं कर सके, पर अपने भाई के यहाँ होने वाले सत्संग तथा आस-पास के सभी सत्संगों को अपना निजी कार्यक्रम समझकर उसमें पूर्ण मनोयोग से भाग लिया करते थे। यद्यपि वे आज हमारे मध्य नहीं है परन्तु उनकी अनन्य गुरूभक्ति तथा आश्रय सेवा अवश्य ही अनुकरणीय एवं वन्दनीय है।

उपरोक्त कथानक को लिपिबद्ध करते समय बार-बार मेरे मन में एक प्रश्नोत्तर की याद आ रही है। जिसका वर्णन यहाँ उचित ही होगा। महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की स्वर्ण जयन्ती मनाये जाने वाले पवित्र तिथि के चौथे दिन आराध्यदेव श्री प्रभुजी गुरु भवन के सामने आराम कुर्सी पर बैठकर त्रिजग पावन अखिल लोक लोकेश्वर भगवान श्री कृष्ण की उस लीला का वर्णन कर रहे थे जिसके सन्दर्भ में चक्रवर्ती सम्राट महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उस समय के ब्राह्मणों के विरोध करने पर भगवान श्री कृष्ण ने यज्ञ में सेवा करने के लिये ब्राह्मणों का पैर पखारा था। इस प्रसंग को सुनने के बाद हमारे एक विद्वान गुरूभाई ने प्रश्न किया, ''प्रभो ! उन ब्राह्मणों की क्या गति हुई होगी जिन्होंने योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण से अपना पैर धुलवाया।'' श्री प्रभु जी ने मनोहर मुस्कान के साथ अपने मुखारविन्दु से कहा, ''लल्ला ! भगवान श्री कृष्ण ने ब्राह्मणों का पैर क्या धोया, उनका सम्पूर्ण पुण्य धो दिया।'' ऐसे योगेश्वरों का जो लीला वर्णन करता है उसे अक्षय पुण्य प्राप्त होता है। योगीजन कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं। उनके द्वारा होने वाले पुण्य, उनके चरित्र कहने-सुनने वाले प्राप्त कर लेते है तथा इसके विपरीत उनके शरीर से होने वाले पाप, निन्दक एवं द्वेष रखने वाले पाते हैं। अतः सदैव उनके पवित्र चरित्रों का कथन-श्रवण चिन्तन करना चाहिये।

***

किमस्ति योगः

(एकोनविंशतिका श्रृंखला)

रचनाकार : द्वारका प्रसाद शर्मा, लखनऊ।

(१) गुरुचरणानां सद्बलं धारयित्वा,
मनसि ल तेषां नाम संकीर्तयित्वा।
उरसि च तेषां सद्गुणानाश्रयित्वा,
कथनमपि तेषामाज्ञयाऽहं करोमि।।

श्री गुरुचरणों के सद्बल को धारण करते हुए, मन में उनके नाम का संकीर्तन करते हुए, हृदय में उनके सद्गुणों का आश्रय लेते हुए, उनकी आज्ञा से ही मैं कथन कर रहा हूँ।

(२) सूत्रमेकन्तु संगृह्य, योगदर्शन शास्त्रतः।
भाषानुवाद सहितान्, श्लोकान् प्रस्तौमि पूर्ववत्।।

पातञ्जल योग दर्शन शास्त्र से एक सूत्र को लेकर, भाषानुवाद सहित पूर्व की भांति श्लोक रचना प्रस्तुत कर रहा हूँ।

सूत्र तदर्थसहितम्—तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

(३) विवेक ख्याति युक्तस्य, योगिनः सप्तधा स्मृता।
उच्चावस्था तु स्याद् बुद्धेः, सूत्रस्यार्थ उदीरितः।।

निर्मल विवेकख्याति वाले योगी की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली बुद्धि होती है।

(४) विवेकख्यात्या विमलं यदा स्यात्, चित्तं मलैरावरणैश्च रहितम्।
संसार ज्ञाना द्विरतश्च भूत्वा, विकार रहितश्च यदा भवेत्।।

साधक का चित्त विवेक ख्याति द्वारा मल विक्षेप आवरणों से रहित होकर स्वच्छ एवं सांसारिक ज्ञानों के उदय न होने पर जब विकार रहित हो जाता है।

(५) तदोत्कर्षवती प्रज्ञा, जायते सप्तलक्षणा।
चतस्रस्तासु पूर्वायाः, यत्रसाध्या भवन्तीह।।

तब उत्कर्ष अवस्था वाली प्रज्ञा सात प्रकार की उत्पन्न होती है। उनमें से प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा प्रयत्न साध्य हुआ करती है।

(६) **अन्त्यास्तिस्रस्तु याः प्रज्ञाः, चित्त मोक्षस्य हेतुकाः।**
चेतो विमुक्ति प्रज्ञास्ताः, भण्यन्ते योगविद्वरैः॥

अन्त की तीन चित्त से विमुक्त करने वाली होने से योगविद् मनीषियों द्वारा चित्त विमुक्त प्रज्ञा कहलाती है।

(७) **आद्यास्चतस्रस्तु याः प्रज्ञाः, साध्या यत्नैस्तु ताः स्मृताः।**
शेषास्तिस्रस्तु पूर्वासां, सिद्धायां सिद्धियाः स्वतः॥

पहली चार प्रयत्न करने से प्राप्त होती है। किन्तु उन चार के होने पर वे अपने आप प्राप्त हो जाती है।

—काम विमुक्तावस्थानां चत्वारो भेदा ननु निरुप्यन्ते।
काम विमुक्त प्रज्ञा के चार भेद ये हैं—

(८) **यावद् दृष्टिगतं गुणमयं दृश्यं समग्रं हि तद्,**
नित्यं नो परिणामि तावदिदं संस्कार जन्यै दुःखैः।
सात्विक राजस तामसैश्च विविधैर्विषमैर्गुणै दुःखदं,
हेयं तज्ज्ञातमेव ननु नावसितं ज्ञातुमधिकं ततोऽन्यत्॥

ये जितना गुणमय दृश्य है वह सब अनित्य है, परिणामी है एवं संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोध से दुःख रूप है। इसलिये हेय है, यह मैंने जान लिया, अब कुछ जानना शेष नहीं रहा। (पातञ्जल योग दर्शन के सूत्र २/१८/१९ के अनुसार)

(९) **द्रष्टुस्तथा तु दृश्यस्य, संयोगो हेय हेतुकः।**
अपास्तं तन्मया सर्वं, नास्त्यपास्यं नु विद्यते॥

द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेय हेतु है, उसको दूर कर दिया। अब कुछ भी दूर करने योग्य बाकी नहीं रहा। (पातञ्जल योगदर्शन के सूत्र २/१६/१७ के अनुसार)

(१०) **प्राप्ताऽवस्था च सा सर्वा, समाधौ प्रापिता मया।**
प्राप्तुं नो विद्यते मह्यं, शेषं नावसितं ननु॥

जो अवस्था साक्षात् (प्राप्त) करनी थी, वह समाधि द्वारा प्राप्त कर ली गई है। अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

(११) **हानोपायो मयालब्धः, विवेकख्यातिनादिना।**
अवशिष्यते किंचिन्नहि, मदर्थं करणाय वै।।

हान का उपाय, अर्थात् निर्मल और अचल विवेक ज्ञान सिद्ध कर लिया गया है। अब और कुछ करना शेष नहीं रहा।

—चित्त विमुक्त प्रज्ञायास्त्रयो भेदा एवं विधाः—

चित्त विमुक्त प्रज्ञा के तीन भेद इस प्रकार हैं।

(१२) **चेतसो यदधिकारः, भोगेऽपवर्गरूपके।**
पूरितौ द्वावपि मया, नास्त्यस्यापि प्रयोजनम्।।

चित्त ने अपना अधिकार (भोग–अपवर्ग दोनों) पूरा कर दिया, अब उनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

(१३) **यथा शैलस्य शिखरात्, पतिता ये च प्रस्तराः।**
खण्डशास्ते भवन्त्येव, चित्तं मे लयतां गतम्।।

जिस प्रकार पर्वत के शिखर पर से पत्थर खण्ड–खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार चित्त अपने कारण रूप में लीन हो रहा है क्योंकि अब उसका कोई काम बाकी नहीं रहा है।

(१४) **गुणातीतो भवेद्योगी, स्यादात्मन्येव संस्थितः।**
एषैवाभीष्ट योगस्य, स्थितिर्लभ्या तु योगिभिः।।

जब पुरुष गुणों के सम्बन्ध से परे होकर आत्म स्वरूप में अविचल भाव से स्थिर हो जाता है तो वह आत्मस्थिति की संज्ञा होती है।

(१५) **सप्तप्रकारां परिलभ्य प्रज्ञां, स्वतोऽनुभूतिं परिगम्य तावत्।**
स कथ्यते जीवन्मुक्त योगी, चित्तं निवेश्य लयतां तत्कारकेस्वे।

इस प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का अनुभव करने वाला मनुष्य जीवनमुक्त योगी कहा जाता है। चित्त जब अपने कारण में लय हो जाता है तब ही योगी विवेकमुक्त कहलाता है।

जीवनयापन की श्रेष्ठतम् पद्धति भोग नहीं योग है

ब्रह्मचारी ओमप्रकाश, लखनऊ

संसार में मानवजीवन यापन की मुख्यत: दो ही दिशा है—एक योग की तथा दूसरी भोग की। मानव जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है। योग जीवन का स्वाभाविक व प्राकृतिक ईश्वरी विधान है। भोग वास्तविक जीवन नहीं है भोग रोग है, बुढ़ापा है और मृत्यु है। इसके विपरीत योग स्वास्थ्य है, अजरत्व है और अमरत्व है। चित्त की वृत्तियों को संसार के विषय भोगों में भटकने से रोककर अन्तर्मुख बनाना इसी को योग कहा है। चित्त की वृत्तियों के निरोध अर्थात् रूक जाने से परदृष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। आत्मा का अपना शुद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है; चित्त वृत्ति निरोध से पूर्व दृष्टा (आत्मा) चित्त के समान रूप वाला मालूम होता है अर्थात् जीवात्मा अपने चित्त के भावों के अनुरूप ही अपने को जानता एवं मानता है। योगाचार्य भगवान श्री पातंजलि जी ने **'योगश्चित्त वृत्ति निरोध:'** कहकर योग शब्द की अभिव्यक्ति की है। निरोध शब्द का अर्थ योग दर्शन में समाधि बतलाया है और समाधि शब्द का अर्थ उपनिषदों में **''समाधि समतावस्था जीवात्मन: परमात्मन:''** अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की समतावस्था का नाम समाधि है। मानव जीवन का सारा खेल चित्त वृत्तियों का ही है और इनका निरोध ही योग की सच्ची साधना है। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए महर्षि पातंजलि जी ने अष्टांग योग आठ के सिद्धान्तों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि का निरूपण किया है संसार के सभी धर्मों का स्वरूप योग के यम–नियम पर ही आधारित है। यम का अर्थ है —सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह है तथा नियम का अर्थ है, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान है। संसार के सभी धर्माचार्यों के उपदेश तथा उनके मूल सिद्धान्त योग के यम–नियम के अन्तर्गत ही आ जाते है, इसलिए संसार का प्रत्येक प्राणी इस कल्याणकारी योग साधना का अधिकारी है फिर वह चाहे किसी भी जाति, देश तथा मजहब का मानने वाला हो, अष्टांग योग के यम के अन्तर्गत सदाचार सम्बन्धी नियमों का अध्ययन है जिनके द्वारा सामान्य रूप से मानव के व्यक्तित्व का गठन होता है।

मनुष्य के व्यवहार में हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह जैसी क्रियाएं जिनसे मानव के शरीर में विघटनकारी रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का शरीर एवं मन विकारी होकर अनेक प्रकार के रोगों का कारण बनता है। अष्टांग योग के अंगों में **नियम** भी मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण अंग है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य का शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान में निमग्न रहने का प्रविधान किया गया है। मनुष्य के शरीर को स्वस्थ्य एवं सबल बनाने के लिए व यम–नियमों के बाद आसनों का अभ्यास बताया है। जिनके अभ्यास से मनुष्य पूर्ण स्वस्थ एवं शक्ति सम्पन्न बनता है। आसन के बाद प्राणायाम अष्टांग योग का वह अंग है जिसके अभ्यास से शरीर की सभी अशुद्धियों का नाश होकर शरीर पूर्णत: निर्मल हो जाता है। प्राण ही मनुष्य का जीवन है प्राणायाम की साधना से मन का निरोध होता है और मनुष्य प्राणजयी होकर अद्भुत शक्तियों का मालिक हो जाता है। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार इन्द्रियों

की गुलामी से छुड़ाकर इन्द्रियों का मालिक बनाने की साधना है। प्रत्याहार के बाद धारणा के द्वारा मनुष्य अपने मन को अनावश्यक चिन्तन से हटाकर अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए मन को एकाग्र करके एक लक्ष्य में लगा देना है धारणा द्वारा स्थिर किया हुआ लक्ष्य ध्यान में जाग्रत हो उठता है। यही धारणा की सिद्धी है। धारणा मे मन का बराबर तेल धारावत लगे रहना ही ध्यान है, समाधि अष्टांग योग का अन्तिम सोपान है। जीवात्मा और परमात्मा की समान स्थिति को समाधि कहते हैं। योग का लक्ष्य समाधि ही है। इसलिए समाधि को ही योग कहते हैं। इस अष्टांग योग के अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने शरीर, मन, बुद्धि और चित्त को अधिक सूक्ष्म, परिष्कृत, शक्तिशाली तथा अत्यधिक उपयोगी बना सकता है। इस अष्टांग योग के अभ्यास से ही मनुष्य अपने शरीर की रचना, कार्य, नियन्त्रण तथा उसका ठीक–ठाक उपयोग करना सीख जाता है। आज का मानव जिस भोग मय जीवन के पीछे पागल है जिन वासनाओं के पीछे दौड़ रहा है उसी का परिणाम है कि वह शारीरिक व्याधियों से परेशान है व दुःखी है। सारी उपलब्धियों के बावजूद भी आज जगत की मानवता दुःख दर्द से कराह रही है; आहार–विहार, जागरण, निद्रा उठना–बैठना, खान–पान किसी चर्या में इनका कोई नियम नहीं है। विषय भोगी मनुष्य भोगों को अमर्यादित रूप से भोगता हुआ अपने शरीर को रोगी बनाकर शीघ्र ही मृत्यु के मुंह में चला जाता है। आधुनिक युग के मानव ने अपने जीवन को योग से अलग करके रोग, शोक, दुःख विपत्ति एवं नैराश्यता को निमन्त्रण दिया है, इतने पर भी इस गलती को अभी समझ नहीं पा रहा है। वस्तुतः योगियों के बताए हुए मार्ग पर न चलकर निश्चित रूप से मानव ने बहुत बड़ी भूल की है। अपनी इस भूल का दण्ड उसे भोगना ही होगा और भोग भी रहा है। यदि मानव समाज से योग को अलग कर दिया जाय तो सिर्फ मानव के पास भोग ही रह जायेगा। मानव केवल मनुष्य रूप में पशुओं का एक समूह ही रह जायेगा।

आज अधिकांश लोगों का कहना है कि योग तो योगियों, त्यागियों तथा सन्यासियों के लिए है। गृहस्थियों के लिए नहीं, इस प्रकार की बातें नासमझ लोग ही करते हैं। योग सभी के लिए है। योग भोग मय संसार से विरक्ति नहीं है; बल्कि योग कीचड़ में कमलवत् रहने की अद्भुत कला का नाम है। योग घर छोड़ने का सन्देश नहीं है बल्कि यह सारे विश्व को एक कुटुम्ब की तरह ग्रहण करने का सन्देश है। एक योग का अभ्यासी योग की साधना से अपना भला करके दुनिया का भला कर सकता है। यथार्थ में एक योगी ही देश का सच्चा सेवक होता है। सभी के कल्याण स्वस्थ और सुखी रहने की कामना व चेष्टा ही योग व योग का लक्ष्य है। संसार में सर्व श्रेष्ठ जीवन योगी का तथा दूसरे नम्बर पर भोगी का तथा तीसरे नम्बर पर रोगी का होता है। अतः श्रेष्ठ जीवन यापन करने के लिए आप सब योगी बनें अपने आन्तरिक परिशोधन के लिए अपनी प्रतिभा को विकसित करने के लिए अपने आत्मिक उत्थान व आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास करें। यह योग मानव जीवन का महाविज्ञान है। तुम निरे भोगी बनकर रोग–शोक के कारागार में ही पड़े रहोगे। देह की कैद से मुक्ति तुम योगी बनकर ही पा सकोगे। योग आत्मा का महाविज्ञान है तथा जीवन की साधना है। योग केवल आसनतक ही सीमित नहीं है, न आसनसिखाने वाले को योगी ही कहा जा सकता है। योग केवल ईश्वर प्राप्ति का मार्ग ही नहीं बताता बल्कि अष्टांग योग की विधि बता कर जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर एक कर देता है। आज हमारा भारतीय योग विदेश हो आने के बाद **'योगा'** शब्द से जाना जाता

है। योग विद्या परा विद्या है, ब्रह्म विद्या है; यही विद्या इस वाक्य के अनुरूप सिद्ध हुई है **''सा विद्या या विमुक्तये''** यह वही विद्या है जो जीव को सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति दिलाकर मोक्ष प्राप्त कराती है जिस प्रकार लौकिक शिक्षा का एक कोर्स होता है। उसी प्रकार अष्टांग योग का निश्चित कोर्स होता है जिसके द्वारा साधक एक निश्चित समय में आत्म परमात्म का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। योग एक नगद धर्म है जिसे कटिबद्ध होकर आज ही शुरू करो और आज ही फल प्राप्त करो अन्य धर्मों की तरह यह परलोक में मिलने वाला उधार सौदा नहीं।

जिसका जी चाहे वह योग करके देख ले। आज की शिक्षा योग के बिना अधूरी है तथा अशान्ति दायिनी है। शिक्षा का समारम्भ योग ध्यान व आसन से होना चाहिए। शिक्षा में योगासन व ध्यान पद्धति का समावेश आवश्यक रूप से होना चाहिए जिससे विद्यार्थियों की मानसिक शक्ति का पूर्ण सद्उपयोग किया जा सके। छात्रों में विचार के स्रोत को ध्यान के द्वारा जगाकर शिक्षा को साधार एवं सोद्देश्य बनाना चाहिए।

योग का प्रारम्भ मन की एकाग्रता से होता है। योग मानव जीवन की सभी समस्याओं का उचित तथा स्थाई समाधान प्रस्तुत करता है। योगासनों के द्वारा शरीर और मन को पूर्ण विश्राम प्रदान कर मांस पेशियों के तनावों को दूर करके समस्त मांस पेशियों को पूर्ण विश्राम पहुँचाता है। इसके बाद प्राणायाम के द्वारा मस्तिष्क तथा फेफड़ों को प्रचुर मात्रा में शुद्ध प्राणवायु मिलती है। जिससे मानसिक तनाव शीघ्र दूर करने तथा जीवन के उतार चढ़ावों का सफलता पूर्वक सामना करने और अपने मन को सशक्त बनाने का उपाय योग ध्यान है। ध्यान मनुष्य के निकट उसके यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करता है। अन्तर्निहित अपनी आत्मा का ध्यान करना ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। प्रत्येक व्यक्ति को हृदय ज्योति स्वरूप अपनी आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि वह परमात्मा ही आत्म रूप से प्रत्येक प्राणी के अन्दर विराजमान है।

मन की एकाग्रता के बिना भोगी व्यक्तियों को सांसारिक भोगों में भी सुख–शांति नहीं मिलेगी। यदि तुम संसार में योगी बनकर जीओगे तो तुम निश्चित ही अपना तथा दूसरों का कल्याण कर सकते हो अन्यथा यह नियन्त्रण से बाहर तुम्हारा मन तुमको बन्दर की भांति संसार के विषय भोगों में इधर से उधर भटकता रहेगा। विषय भोगी होने के नाते ही तुम्हारे आवेग विक्षेप तथा संकल्प–विकल्प तुम्हें तुम्हारे आत्मा के आनन्द से वंचित किए हुए हैं। अगर तुम अपने अन्दर के आनन्द स्रोत को प्रवाहित करना चाहते हो और साथ ही अपने अन्दर के छिपे हुए खजाने के मालिक बनना चाहते हो तो ध्यान दीप को प्रकाशित करो मन को वश में करके उसे एकाग्र करो। ध्यान का दीपक लेकर उसके प्रकाश में अपने अन्दर अपने आप को खोजो। और यह सब तो तुम योगी बनकर ही कर सकोगे।

योग के अभ्यास से तीन लाभ योग साधना करने वाले को प्रत्यक्ष में होते हैं। प्रथम शारीरिक स्वास्थ्य की प्राप्ति, द्वितीय मानसिक शान्ति व शक्ति का विकास तथा तृतीय आत्म विकास का आत्म ज्ञान। योग का उद्देश्य प्रकृति के बन्धन तथा पदार्थ के मायावी आकर्षणों से व्यक्ति को मुक्त करके उसे परम स्वतन्त्र या कैवल्य की अनुभूति कराना है। योग ध्यान के द्वारा मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप व शक्ति का ज्ञान होता है। योग से प्राप्त ज्ञान ही सत्य एवं पूर्ण ज्ञान है। अत: अर्जुन की भांति मोह–शोक के नाश के लिए योगेश्वर श्री कृष्ण की आज्ञा व आदेश मानकर योगी बनो ! **''तस्माद्योगी भवार्जुन:''** ***

योगमार्ग में गुरु की महत्ता

पूर्णचन्द्र पन्त

(पिछले अंक का शेष)

जैसा वास्तविक रूप गुरु का है। वही परमेश्वर का भी है, जो परमेश्वर हैं वही गुरु भी हैं। इसलिये गुरुदेव का भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। ईश्वर तत्व और गुरुतत्व ये दोनों एक ही हैं, इनमें कोई अन्तर नहीं है। जो गुरु हैं वही शिव हैं और जो शिव हैं उसे ही गुरू कहा गया है। इसलिये शिवस्वरूप श्री गुरुदेव की भक्ति करने से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हो जाते हैं।

उपनिषदों के रचयिता प्रातः स्मरणीय योगाचार्य महानुभावों ने अपने अनुभव के आधार पर आत्मोत्थान का जो पवित्र योगमार्ग अपने उपनिषदों में प्रशस्त किया है उसमें सद्गुरु शरणागति का विशेष महत्व बताया गया है। जैसे—

श्रद्धालुर्मुक्ति मार्गेषु वेदान्तज्ञान लिप्सया।
ईपायनकरो भूत्वा गुरू, ब्रह्मविदं व्रजेता।
सेवाभिः परितोष्येनं चिरकालं समाहितः।
सदा वेदान्त वाक्यार्थं श्रृणुयात्सुसमाहितः।। (नारद परिव्राजकोपनिषद)

मुक्ति मार्ग में श्रद्धा रखने वाले साधक को चाहिये कि वह वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ हाथ में समिधा लेकर किसी अन्तर्द्रष्टा गुरु की शरण में जाये और चिरकाल तक उनकी सेवा और एकाग्रचित्त होकर उनसे वेदान्त वाक्यों को सुनें व समझे।

सत्कर्म विपाकतो बहूनां जन्मानामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते।
तदा सद्गुरूमाश्रित्य चिरकाल सेवया बन्धमोक्षं कश्चित् पृच्छति। (पैंगलोपनिषद)

जब सत्कर्मों के परिपाक से अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष प्राप्ति की इच्छा होती है तब वह किसी सद्गुरु की शरण में जाकर चिरकाल तक उनकी सेवा करने से बन्धन से मुक्त होने का ज्ञान प्राप्त करता है।

तद्विज्ञानार्थं सः गुरूमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डकोपनिषद)

जिज्ञासु को चाहिये कि वह परमेश्वर का वास्तविक तत्वज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विश्वास के साथ किसी ऐसे सद्गुरु की शरण में जाये जो वेदों के रहस्य को भली भांति जानते हों और परमात्मा में स्थित हों।

जिज्ञासु तथा मुमुक्षु साधक को सदैव सन्तों की सेवा में लगे रहना चाहिये। अन्यथा सर्वस्व उन्हें अर्पण कर देना चाहिये। गुरू से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। जिसके द्वारा यह सारा संसार जाना जाता है उन श्री गुरुदेव से बढ़कर दूसरा और कौन हो सकता है? इस तथ्य को भलीभांति समझकर जीव निश्चित ही मुक्त हो जाता है।

(स्वसंवेद्योपनिषद)

जहाँ गुरु है वहाँ शिव है। गुरू और शिव स्वरूप ही वह परमेश्वर है। भ्रमर कीट सिद्धान्त के अनुसार यह प्रसिद्ध है कि भृंगी नामक कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब अपने घर में बन्द कर देता है तो वे कीड़े भय के कारण निरन्तर उस भृंगी का ध्यान करते रहने में भृंगी जैसे ही बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार शिव स्वरूप गुरूदेव का ध्यान करने से साधक मुक्त हो जाते हैं। शिवलिंग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार गुरू का अभिषेक करने से तथा चरणामृत का पान करने से अनेक जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं। गुरु में प्रेम रखना ही शिव से प्रेम करना है। गुरू के समीप रहना ही परम पवित्र वास है। अत: शिव की शरण लेनी चाहिये, गुरू की शरण लेनी चाहिये। (रूद्रोपनिषद)

गुरू जो भी आदेश दे उसका पालन शिष्य को बिना सोचे विचारे, अत्यन्त सन्तोष पूर्वक करना चाहिये, वेदों में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि है। यह विद्या उसी को देनी चाहिये जो गुरू का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्ति परायण रहे। अन्य किसी को नहीं देनी चाहिये। यदि कोई देता है तो दाता नरकगामी बनता है और लेने वाले को भी किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती। (ब्रह्मविद्या उपनिषद)

जो शिक्षा प्राप्त करके भी अपने गुरू का आदर नहीं करते हैं उनके अन्न को कल्याण कामी व्यक्ति कभी ग्रहण नहीं करते है। न गुरू और यती ही उस अन्न को खाते है। गुरू ही परम धर्म है, गुरू ही परम गीत है, एकाक्षर के ज्ञानदाता गुरू का जो सम्मान नहीं करता— उसकी विद्या, उसकी सारी तपस्या और ज्ञान धीरे–धीरे क्षीण होकर ऐसे समाप्त हो जाते हैं जैसे कच्चे घड़े में जल समाप्त हो जाता है।

(शाट्यपलीय उपनिषद)

गुरूदेव का वास्तविक स्वरूप क्या है? उनके बाह्य लक्षण क्या है तथा गुरूनिष्ठा साधक अपनी गुरूभक्ति के बल पर किस प्रकार अपने सभी मनोरथों को सिद्ध करता हुआ परम कल्याण का भागी बन जाता है। यह बात अद्वयतारकोपनिषद में बड़ी स्पष्टीकरण के साथ समझायी गयी है जैसे—

आचार्यो वेद सम्पन्नो विष्णु भक्तो विमत्सर:।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मको शुचि:॥
गुरूभक्ति समायुक्त: पुरूषज्ञो विशेषत:।
एवं लक्षण सम्पन्नो गुरूरित्यभिधीयते॥

वेदों में पारंगत आचार्य, ईश्वर भक्त, मत्सरता रहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठा रखने वाला,

योगात्मा, सदा पवित्र रहने वाला, गुरुभक्त तथा परमात्मा में विशेष रूप से लय रहने वाला इन सभी लक्षणों से युक्त महापुरुष को गुरू कहा जाता है। (अद्वयतारकोपनिषद)

गु शब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रू शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वात् गुरूरित्यभिधीयते।।
गुरूरेव पराकाष्ठा गुरूरेव परा गतिः।
यस्मादुपदेष्टासौ तस्माद् गुरूतरो इति।।

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसार मोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान् कामान् वाप्नोति। सर्वपुरुषार्थ सिद्धिर्भवति। य एवं वेद इत्युपनिषद।।

''गु''शब्द का अर्थ है—अन्धकार और ''रु'' शब्द का अर्थ है— रोकने वाला, अन्धकार का निरोधी होने कारण वह तत्व गुरू कहलाता है।

गुरू ही परब्रह्म है, गुरू ही परम गति है, गुरू ही परायण योग्य है, गुरू ही परा सत्ता है और गुरू ही परम धन है। वह उपदेश करने वाला होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। सच्चे ह्रदय से 'गुरूशब्द' का उच्चारण करने मात्र से मनुष्य का संसार सागर से छुटकारा हो जाता है, सब जन्मों के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं, सब कामनायें पूरी हो जाती हैं और सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वही उपनिषद (वेदान्त) का यथार्थ ज्ञाता है। (अद्वयतारक उपनिषद)

गुरूकृपा ही योगसिद्धि का प्रमुख साधन है। यह स्पष्ट करते हुए महोपनिषद में कहा गया है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करूणां विना।।

सद्गुरू की कृपा के बिना इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों (सभी प्रकार के सांसारिक विषय भोगों) का त्याग करना संभव नहीं है। इसी प्रकार तत्व ज्ञान की प्राप्ति भी दुर्लभ है तथा सहजावस्था को प्राप्त करना और भी अधिक कठिन है। अर्थात् ये तीनों चीजें केवल गुरूकृपा से ही प्राप्त हुआ करती है।

इस सम्बन्ध में अखिल ब्रह्माण्ड नामक योगेश्वर श्री कृष्ण का यह पवित्र वचन है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्पर संयतेन्द्रियः। (गीता—अध्याय ४)

अर्थात् जो साधक श्रद्धालु हों, अनन्य गुरूनिष्ठ हो, गुरूदेव तथा ईश्वर में समबुद्धि रखता हो, साधन परायण और जितेन्द्रिय हो वही व्यक्ति तत्वज्ञान का एवं गुरू कृपा का अधिकारी है।

शिव संहिता में भगवान सदाशिव ने अपने मुखारविन्द से यह बात कही है कि गुरुमुख से प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती हुआ करती है तथा गुरुकृपा ही साधक के कल्याण का मूल स्रोत है जैसे—

भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्र समुद्भवा।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यति दुःखदा।।

गुरू सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते।
अवालम्बेन विधाया: तस्या: फलमवाप्नुयु:।।
गुरू: पिता गुरूर्माता गुरूर्देवो न संशय:।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वै प्रसेव्यते।।
गुरू प्रसादत: सर्वं लभ्यते शुभमात्मन:।
तस्मात्सेव्यो गुरू नित्यं नान्यथा शुभमाप्यते।।
न भवेत्संगयुक्तानां तथाविश्वासिनामपि।
गुरू पूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम्।।
मिथ्यावाद रतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम्।
गुरू सन्तोष हीनानां न सिद्धि स्यात्कदाचन।।

गुरूदेव के मुखारविन्द से निकली हुई विद्या ही वीर्यवती (फलवती) हुआ करती है। अन्यथा गुरू के उपदेश के बिना किया गया योगाभ्यास निष्फल चला जाता है। उससे शिष्य के अन्दर शक्ति का विकास नहीं होता और उसकी वह साधना अत्यन्त कष्टप्रद भी होती है। जो साधक भक्तिपूर्वक गुरूदेव की सेवा एवं उनके आज्ञा पालन से उन्हें सन्तुष्ट करके योगविद्या के अभ्यास में उत्साह पूर्वक लगे रहते हैं वे शीघ्र ही उसका फल प्राप्त कर लेते हैं। गुरू ही पिता है, गुरू ही माता है और गुरू ही देवता है। इसलिये मन से कर्म से और वाणी से गुरु की सेवा करनी चाहिये। उनकी सेवा से सब की ही सेवा हो जाती है। गुरुकृपा से साध क का सब प्रकार से आत्म कल्याण हो जाता है।

संसार में आसक्ति रखने वाले, ईश्वर शास्त्र और सन्त महापुरुषों में विश्वास न रखने वाले, गुरू पूजा न करने वाले, विविध मत मतान्तरों में, औपचारिकताओं और जन समुदाय में रूचि रखने वाले, व्यर्थ के वाद–विवाद में पड़े रहने वाले, कठोर वाणी बोलने वाले तथा गुरूदेव को सन्तुष्ट न करने वाले लोगों को योग मार्ग में कभी भी सफलता नहीं मिलती।

योगमार्ग ही परम कल्याण का मार्ग है। यह मार्ग अपने असली स्वरूप को जानने का मार्ग है, अखिल ब्रह्माण्डों के संचालक सर्वव्यापक, परब्रह्म परमेश्वर को जानने का मार्ग है और सब प्रकार से शक्तिसम्पन्न बनने का मार्ग है। अत: कल्याणकामी व्यक्ति को गुरू का अवलम्बन लेकर इस पवित्र योगमार्ग को अपनाना चाहिये। योगमय जीवन बना लेना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा पुरूषार्थ है। योग विद्या एक ऐसी अमर निधि है जिसे पाकर और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। योगशास्त्र में कहा गया है– **"नास्ति योगात्परं बलम्"**। योग से बढ़कर ऐश्वर्य और कुछ भी नहीं है। तथा– **नास्ति तत्वं गुरोः परम्।।** अर्थात्–गुरुदेव से श्रेष्ठ और कोई तत्व नहीं है।

***

तन्त्रोक्त ज्ञानयोग

डा० स्वामी केशवाचार्य, आन्दोद (वड़ौदा)

अनेक लोगों की धारणा है कि तन्त्र में ज्ञानयोग तथा ब्रह्मोपासना का उपदेश नहीं है, केवल काली, शिव, शक्ति आदि सगुण ब्रह्म की उपासना विधि ही है। ऐसी परिस्थिति में तन्त्रोक्त ज्ञानयोग तथा ब्रह्मोपासना के सिद्धान्तों को व्यक्त करना अनुचित न होगा।

तन्त्राचार्य योगिराज श्री महादेव जी ने कहा है कि–

''निद्रा भी मैथुनाहारा: सर्वेषां प्राणिनां समा:।
ज्ञानवान् मानव: प्रोक्तो ज्ञानहीन: पशु: प्रिये''॥

आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि का ज्ञान पशु–पक्षी, कीट पतंग आदि सभी प्राणियों को है। परन्तु आत्मज्ञान केवल मनुष्य को ही होता है। जो मनुष्य दुर्लभ मानव जीवन लाभकर आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करता है, वह पशु तुल्य ही है।''

जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान सम्पन्न है, वही ''मनुष्य'' शब्द को सार्थक करता है, वही मनुष्य कहलाने के योग्य है। प्राचीन काल में इस ज्ञान के अनुसन्धान के लिये अनेक विध तपस्यायें की जाती थीं। इसे प्राप्त कर मनुष्य त्रिकालदर्शी बनते थे। श्रुति कहती है–

''तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय॥

इस सच्चिदानन्द ब्रह्म को जाने बिना कोई मृत्यु के ग्रास से नहीं बच सकता है। इसके जानने से ही चिर शान्ति प्राप्त होती है। महानिर्वाण तन्त्र में कहा गया है–

''ब्रह्मादि तृण पर्यन्तं मायया कल्पितं जगत्।
सत्यमेकं परंब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्॥''

''यह चराचर जगत् माया के द्वारा कल्पित किया गया है। वास्तव में यह मिथ्या ही है। सत्य तो एक मात्र परब्रह्म ही है''। वेदान्त दर्शन में भी यही कहा है–

''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येति''॥

ईश्वर ने स्वीयभाव से बाह्य होकर इस विश्व की सृष्टि की है–

'मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया''।

एक मात्र सत्य ब्रह्म को ही जानकर साधक सदा के लिए सुखी होते हैं। मुक्ति की इच्छा पर ब्रह्म को जानने के लिए वे ज्ञानयोग का अभ्यास करते हैं। शास्त्रों के उपदेशानुसार सद्गुरु के पास रहकर विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा समाधानादि षट्सम्पत्ति और साधन चतुष्टय से सम्पन्न होकर

वे ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते हैं। तन्त्र शास्त्र का उपदेश है कि जब तक साधक अधिकारी न हो तब तक भेद ज्ञान दूर नहीं होता और न अद्वैत भाव से निर्गुण ब्रह्म की उपासना की योग्यता होती है।

''भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।।

तत्वज्ञान होने पर माया का बन्धन, शास्त्र–गुरु वाक्य में संशय तथा भेद ज्ञानादि दूर हो जाते हैं। इस श्रुति वाक्य का आदर करते हुए तन्त्रशास्त्र उपदेश करते हैं।

''तत्वं ज्ञानात्परं नास्ति नास्ति देवः सदाशिवात्।
ज्ञानात्परतरं नास्ति नास्ति नास्ति वरानने।।
लब्ध्वा हि तत्व परमं मुच्यते देहबन्धनात्।
संसारोत्सारणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेवहि।।''

इस दुस्तर संसार सागर को पार करने के लिए ज्ञान रूपी नाव ही एक मात्र उपाय है। ज्ञान दो प्रकार के है—परोक्षज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान। अपरोक्ष ज्ञान सूक्ष्मज्ञान को कहते हैं। इसके द्वारा जीव की बाह्य विषय में भेद बुद्धि दूर होती है और समस्त पदार्थों में एक परम सत्ता की ओर दृष्टि निबद्ध हो जाती है। सामान्य बुद्धि से यह नाम रुपात्मक जगत् सत्य रूप में प्रतिभाषित होता है। इससे मिथ्या जगत् के सांसारिक कर्म में जीव बद्ध हो जाता है। **'संकल्प सम्भवोबन्धः'**—जगत् को नित्य मानकर विषय वासना के संकल्प से जीव जन्म मृत्यु के पाश में बन्ध जाता है। इस बन्धन के उच्छेद के लिए ब्रह्म विद्या का अनुशीलन प्रयोज्य होता है। 'प्राणतोषणी'' तन्त्र का वाक्य है—

''अविद्या नाशिनी विद्या विद्या विद्याविवर्धिनी।
,ब्रह्म विद्या समं ज्ञानं नास्ति नास्ति कदाचन्।।

श्रुति भी कहती है—**'विद्ययामृतमश्नुते'**। इस ब्रह्मविद्या के अभ्यास से चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध तथा बुद्धि निर्मल होने पर जीव यह भली भांति समझ जाता है कि बन्धन और मोक्ष का कारण क्या है? श्रुति कहती है कि जो ब्रह्म विद्या के बल से पर विज्ञान सम्पन्न होते हैं वे ही परम पद प्राप्त करते हैं। **'यस्तुविज्ञानवान भवति'**। महाविज्ञान तन्त्र में कहा है—

आत्म साक्षी विभुः पूर्णः सत्योद्वैतः परात्परः।
देहस्थोऽपि न देहस्थो ज्ञात्वेनमुक्ति भाग्भवेत्।।

वास्तव में मेरे बन्धन और मोक्ष का तो कोई विषय ही नहीं है। मैं तो साक्षी स्वरूप, निर्लिप्त, सनातन अद्वैत पुरुष हूं। शरीर स्थित होते हुए भी शरीर से निर्लिप्त हूं। इस प्रकार तत्वज्ञान होने पर जीव मुक्त हो जाता है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा जब सदा मुक्त स्वरूप है तो फिर उसकी मुक्ति कैसी ? इसके उत्तर में 'प्राणतोषणी' तन्त्र का यह दृष्टान्त है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु"॥

आत्मा इस शरीर रूपी रथ का रथी है। यह साक्षी स्वरूप आत्मा तो रथ का स्वामी है। ब्रह्म विद्या सम्पन्न विवेकी पुरुष कहते हैं कि शरीर इन्द्रिय और मन, बुद्धि अहंकारादि से युक्त हो जाने के कारण मुक्त आत्मा भी बन्धन में पड़ा हुआ–सा दीखता है। इन बन्धनों का छूटना ही उसकी मुक्ति है। इन बन्धनों से मुक्ति पाने के लिए उत्तम मार्ग निवृत्ति का है। कामना पूर्ण योग–यज्ञादि कर्म प्रवृत्ति मार्ग के हैं। उससे बन्धन और भी दृढ़ होते हैं। इसलिए कहा गया है कि–

न मुक्तिर्जपनाद्धोमादुपवासशतैरपि।
ब्रह्मेवाहमिति ज्ञात्वा मुक्तो भवति जीव भृत्॥

सदा मुक्त आत्मा माया शरीर में बद्ध होने पर भी जब इन्द्रियों की परतन्त्रता दूर कर स्ववश होता है–"शिवोऽहं सच्चिदानन्दस्सोहम्" ऐसा बोध करता है–तभी मुक्त होता है। शत–सहस्र बार जप होमादि काम्यकर्म करने से भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती। शैवागम में तत्वज्ञानार्थी साधक को उपदेश किया गया है–

'अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि मुक्तोऽहमिति भावयेत्'।

मैं नित्य मुक्त ब्रह्म ही हूँ। अन्य नहीं हूँ। ऐसी भावना करनी चाहिये। जन्म–यौवन–वार्धक्यादि अवस्था शरीर की है आत्मा की नहीं। आत्मा तो सदैव एक रूप है। उसमें कुछ भी भिन्नता नहीं है। केवल अविद्या के–माया के आवरण से आवृत बुद्धि इस सत्य तथ्य को नहीं देख पाती है–जैसे धूल से ढके हुए दर्पण में मनुष्य का चेहरा नहीं दीखतागन्धर्व तन्त्र का वचन है–

"नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोष वर्जितः।
एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥

आत्मा एक है। केवल माया से उत्पन्न भ्रान्त दृष्टि भिन्न–भिन्न आत्मा देखती है। भेद औपाधिक है तात्विक नहीं। जैसे कि आकाश एक ही है। परन्तु मठ में मठाकाश और घट में घटाकाश के रूप में बोध होता है। वैसे ही एक ही आत्मा चराचर जगत में व्याप्त है–

'यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति।
सर्वभूतस्थ मात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा'॥

सारांश यह कि ज्ञान मार्गी साधक तत्व विचार के द्वारा बुद्धि निर्मल कर, उस बुद्धि योग से समस्त भूतों को अपने में देखता है। तन्त्र का ही सिद्धान्त है कि–

'ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति पिण्ड मध्ये च ते स्थिताः'।

'ब्रह्माण्ड में जो गुण है वह पिण्ड में भी स्थित हैं। समस्त भूतों में जो चेतनशील है वही पिण्ड में भी है। इसलिए साधक गण समस्त भूतों में आत्मस्थ आत्मा को देखते हुए समदर्शी हो जाते हैं। छोटे–बड़े का

भेदज्ञान तब नहीं रह जाता। जब अहंकार की वृत्ति दूर हो जाती है, तभी ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। तब वह साधना की उच्च अवस्था में पहुँच जाता है। एकमात्र ब्रह्म के चिन्तन में तन्मय हो जाता है। उस समाधि अवस्था में मन की बाह्य वृत्ति नितान्त रुद्ध हो जाती है। तब वह ज्ञान योगी समाधिस्थ साधक कैवल्य अवस्था को प्राप्त करता है। एकमात्र ब्रह्म में मन–बुद्धि अहंकारादि समस्त तत्वों को लीन कर देता है। इस कैवल्य समाधिरूप ज्ञानलोक से स्वरूप प्रत्यय होकर ब्रह्म विज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। यह तन्त्र का महावाक्य है–

केवलं ब्रह्म विज्ञानं जायतेऽसौ सदा शिवः।
तस्माद्विज्ञानतो मुक्तिर्नान्यथा भाव कोटिभिः।।

ब्रह्मविज्ञान से ही साधक की मुक्ति होती है। अन्य किसी ज्ञान से नहीं। ब्रह्मविज्ञान रूप अग्नि 'सचित–क्रियमाणादि समस्त कर्मों को जला देती है। ज्ञानयोगी को देहाभिमान रह ही नहीं सकता है। मन इतना स्वच्छ हो जाता है कि बाह्य वस्तु की ओर जाने पर भी **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'** सदैव निर्लिप्त रहता है। ब्रह्माग्नि में समस्त कर्मों का हवन करने के लिए साधक नित्य ब्रह्मोपासना करता है। अन्तर्यागविधानक्रम से उपासना करने की विधि श्री सद्गुरुदेव जी से ही जाननी चाहिये। ब्रह्मोपासक साधक इस मन्त्र के उच्चारण के साथ–साथ ब्रह्म का ध्यान करते हैं–

हृदय कमल मध्ये निर्विशेषं निरीहं।
हरिहर विधि वेद्यं योगिभिर्ध्यानगम्यं।।
जननमरण भीतिध्रंसि सच्चित्स्वरूपं।
सकल भुवन बीजं ब्रह्म चैतन्य मीडे।।

इस मन्त्र से ध्यान करने के पश्चात् ज्ञानयोगी साधक इन तत्वों के उपचार से ब्रह्मपूजन करते हैं–

''गन्धं दद्यान मही तत्वं पुष्पमाकाश मेव च।
धूपं दद्याद्वायु तत्वं दीपं तैज समर्पयेत्।।
नैवेद्यं तोय तत्वेन प्रद्याद परमात्मने।
ततो जप्ता महा मन्त्रं मनसा साधकोत्तमः।।''

बाह्य पूजा में देवता का आवाहन विसर्जन किया जाता है। परन्तु ब्रह्मोपासना में आवह्न–विसर्जन नहीं है। ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म सदा सर्वत्र व्यापक है, उसका विसर्जन कैसे हो सका है। सब समय सब अवस्थाओं में श्री सद् गुरुदेव जी की कृपा से ब्रह्मोपासना की जा सकती है।

***

अद्भुत कृपा लीला

लेखक—राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

अप्रैल में उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत हमने पढ़ा कि ग्राम धरेरा जिला आगरा निवासी मा० श्री रूपसिंह जी का छोटा पुत्र ५—७ वर्ष की अवस्था में सन् १९६५—६६ के आस—पास ग्राम के एक विशाल तालाब में अचानक गिर गया था। आनन्द कन्द महाप्रभुजी रामलाल जी महाराज ने तालाब के अन्दर ही शंकर रूप में प्रकट होकर बालक के प्राणों की अद्भुत ढंग से रक्षा की। महाप्रभुजी ने बालक को उसकी जीवन रक्षा के प्रति आशान्वित किया और अनेक प्रकार से स्नेहलीला करते हुये बालक का सारा दुःख बातों ही बातों में हर लिया। उनकी परम् प्रेरणा से उसी समय दो हृष्ट—पुष्ट नवयुवक आये और उन्होंने बालक को तत्काल तालाब से बाहर निकाल लिया। उचित चिकित्सा के फलस्वरूप बालक तीन दिन में अपनी सहज स्वच्छन्दता को प्राप्त होकर अपने घर—आँगन के मुरझाते सूनेपन को बचपन की मधुर शरारतों में स्वजनों की खिलखिलाहट को सम्मिलित करते हुए हर्ष—उल्लास की हरियाली से पुनः भरने लगा। जिसे देखकर खुशी से माता—पिता फूले नहीं समाते थे। भोले मुख वाले इस बालक ने जब अपने मुख से महाप्रभुजी द्वारा तालाब के अन्दर की गई महान कृपा का वर्णन किया तो सभी परिवारीजनों को भारी आश्चर्य हुआ। महाप्रभुजी की योग ऐश्वर्यता को देखकर सभी का रोम—रोम अपार खुशी से पुलकित हो उठा।

(अप्रैल अंक से आगे घटना का वर्णन निम्नवत् प्रस्तुत है।)

बालक पर 'अद्भुत कृपा वर्षा' की इस अमर घटना के बाद से मा० श्री रूपसिंह जी के जीवन में अब भारी परिवर्तन हो चला था। श्री महाप्रभुजी व विश्वनाथ श्री सद्गुरुदेव भगवन कितनी ऊँची सामर्थ्य वाले हैं। यह जानने के लिए अब कुछ शेष नहीं रह गया था। श्री महाप्रभुजी की अद्भुत कृपालीला का अनुभव हो जाने के बाद से अब सभी संशय तिरोहित हो चुके थे। ह्रदय एक नई उमंग से भर गया था। विश्वास दृढ़ हो चला था। सद्गुरुकृपा से श्री महाप्रभुजी के अभय चरण कमलों का आश्रय जो प्राप्त हो गया था।

उक्त घटना के लगभग एक सप्ताह बाद मास्टरजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र ओम के साथ इस बालक को गुरु—चरणों का दर्शन करने के लिए सवाई आश्रम भेजा। श्री गुरुदेव जी अपने मन में समस्त यौगिक—ऐश्वर्यों से युक्त होकर अपनी स्वाभाविक अवस्था में विराजमान थे। दोनों बच्चे श्री प्रभुजी के चरण कमलों की वन्दना करके चुपचाप सहमे हुये से गुरुदेव के श्री चरणों के निकट ही अपना स्थान पाकर बैठ गये। अनेकों श्रद्धालु भक्त, इसी बीच में गुरुभवन में आते रहे और गुरुदेव को प्रणाम करके उपयुक्त वार्तालाप के बाद थोड़ी—थोड़ी देर में एक—एक करके जाते रहे। बच्चों को छोड़कर लगभग सभी जा चुके थे। गुरुभवन में सुखद नीरवता छा गई। परम शान्ति के निर्मल स्वरूप पूज्य गुरुदेव, परमानन्द के विलक्षण गुणों से सुशोभित होकर बच्चों पर अपना दृष्टिपात करके मुस्करा रहे थे, किन्तु एकदम शान्त थे। ग्रामीण आंचल में पले होने

के कारण बच्चों में शहरी बच्चों वाली शिष्टाचार विहीन निर्लज्ज वाकपटुता के गुण का अभाव था। अतः गुरुदेव जी से सीधे और अपनी ओर से बात करने में संकोच और भय का अनुभव करते थे। दोनों नीची निगाह किये एकदम शान्त बैठे थे। शान्त वातावरण में अवसर पाकर बालक ने धीरे से अपने बड़े भाई ओम से कहा—'जे बाबा नाओं' (गुरुदेव की ओर आंखों से संकेत देते हुये कहा कि यह बाबा नहीं था) ग्रामीण बच्चों का स्वभाव धीरे बोलने का नहीं होता अतः बच्चे की आवाज धीरे बोलने पर भी पर्याप्त तेज थी। पूज्य गुरुदेव जी के कानों ने बच्चे के स्वरों को ग्रहण कर लिया था। सुनते ही अन्तर्यामी श्री गुरुदेवजी अपनी हास्य—विनोद की स्वाभाविक अवस्था में उतर आये। अंगुली से तुरन्त अपनी ओर संकेत करते हुये अपने मुखारविन्द से बोले "हाँ, जे बाबा नाओं। वो बाबाजी तो गुफा में रहा करते हैं, वही ऐसे बड़े—बड़े काम रोज न जाने कितने किया करते हैं। और ये बाबा तो (अपनी ओर संकेत करते हुये) ऐसा ही है।" फिर ओम से कहा लला अपने छोटे भाई को गुफा में ले जाओ, श्री प्रभुजी के दर्शन करा दो। गुरुदेव के आदेश का पालन करते हुये ओम अपने भाई को गुफा में ले आये। गुफा में प्रवेश करने से पूर्व गुफा से सम्बन्धित प्रभु भवन में विराजमान महाप्रभु जी रामलाल जी महाराज के दिव्य स्वरूपों पर दृष्टि पड़ते ही बालक खुशी और आश्चर्य से उछल पड़ा और कहने लगा—

—हेइ बाबा हतो, भइया। (यही बाबा था, भाई)

—खूब ध्यान से चित्र देखो है तेने ? ओम ने पूछा।

—मेरी बात झूठी नाय, जेइ बाबा होगो जरूर।

फिर भी भाई की आज्ञा मानते हुये बच्चे ने जब महाप्रभुजी के स्वरूप को ध्यान पूर्वक देखना शुरु किया तो एकदम से सहम गया।

—क्यों ? अब का सोचे ? ओम ने उत्सुकता से पूछा। सन्देह और विश्वास के मिले—जुले भाव अपने चेहरे पर लाते हुये बालक ने भाई को उत्तर दिया।

—बाबा तो जेइ है भइया, पर उनके माथे पै चन्द्रमा हतो, इनके माथे पै तो है नाय। जे बात समझ में नाय आत।

—तू चिन्ता मत करै। घर मैं दद्दूजी सब समझा देंगे तोय। चलौ अब नीचे गुफा के दर्शन करबे चलें।

दोनों भाई श्री सिद्धगुफा के दर्शन करके और श्रीप्रभुजी से प्रसाद पाकर, प्रणाम करके अपने गाँव लौट आये।

श्री महाप्रभुजी की कृपाघटना के विषय में गुरुदेव से चर्चा किये बिना ही दोनों बच्चे घर लौट आए किन्तु उनकी अन्तर्यामिता से क्या छिपा है ? जब सब कुछ वही करने वाले हैं तो इस विषय में और अधिक कहना ही क्या ? इस बात से दद्दूजी बच्चों पर थोड़े नाराज हुये।

कृषि कार्यों से अवकाश पाते ही मास्टर रूपसिंह जी श्री गुरुदेव के दर्शनार्थ आये। उन्होंने श्री प्रभुजी के श्री चरणों में निवेदन किया—"प्रभुजी ! मेरे छोटे पुत्र और अपने हृदय के टुकड़े को आपने शंकर रूप

में दर्शन देकर उनके प्राणों की रक्षा की है। हम लोगों पर आपकी महान कृपा है, प्रभुजी। मैं विलम्ब से आपके दर्शनार्थ आ सका हूँ क्षमा चाहता हूँ।

आनन्द–सिन्धु परम् श्री गुरुदेव जी, मास्टर जी से कहने लगे–लला ! हम कुछ नहीं किया करते वे करण कारण है, करुणा की अनन्त राशि हैं, वहीं से करुणा के अनन्त स्रोत फूटा करते हैं। अपने प्रिय बच्चों की रक्षा हेतु वे कुछ न कुछ अद्भुत कार्य करते ही रहते हैं। श्री प्रभुजी नेपाल में बैठकर भी अपने प्रत्येक बच्चे पर अपनी कृपा दृष्टि रखा करते हैं, उन्हें प्रेरणायें दिया करते हैं।

श्री प्रभुजी को प्रसन्न मुद्रा में पाकर मास्टर जी ने सहमते हुये एक प्रश्न किया–

"गुरुजी ! महाप्रभुजी अपने बच्चों को, महान संकट में फंसने के बाद उन्हें बचाने में इतना श्रम करते है, ऐसे क्लिष्ट संस्कारों के उदय होने से पहले ही वे उन्हें क्यों नहीं बचा लिया करते ? ताकि बच्चों को भी कोई कष्ट न हो और महाप्रभुजी को भी इतना श्रम न करना पड़े। यह लीला उनकी कुछ समझ में नहीं आती।"

मास्टर जी का प्रश्न सुनकर पूज्य गुरुदेव जी थोड़े गम्भीर हो गये। शीघ्र ही चेहरे पर पूर्ववत सहजता लाते हुये अपने मुखार विन्द से बोले–

"लला ! जब तुम पढ़ते थे तब तुम बच्चे थे अब तुम पढ़ाते हो किन्तु अभी तक बच्चे ही बने हुये हो। कभी–कभी बिल्कुल बच्चों जैसे बातें कर दिया करते हो।"

श्री रूप सिंहजी ने तुरन्त अपने विवेक का परिचय दिया वे करवद्ध निवेदन करते हुये बोले–

"प्रभुजी ! हम तो आपके अज्ञानी बच्चे हैं और अपके समक्ष तो सदा–सदा बच्चे ही रहेंगे।"

श्री गुरुदेवजी मास्टरजी की निर्दोषता–निश्छलता को देखकर मुस्करा दिये और फिर प्रसन्न होकर कहने लगे–

–"अच्छा ! तो सुनो लला।"

तुम्हारे पुत्र की जीवन रक्षा में श्री प्रभुजी की जो कृपा–लीला प्रकाश में आयी है यह पूर्ण कर्म सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करती है। देखो लला ! कर्म क्या है ? इसके यथार्थ स्वरूप को समझने में बड़े–बड़े ज्ञानी धर्मोपदेशक भी भ्रमित हो जाते हैं। साधारण मनुष्य की तो बात क्या ? योगेश्वर श्री कृष्ण जी को अतिशय प्रिय महात्मा अर्जुन भी कर्म जैसे गूढ़ विषय को अपने मोह के कारण ठीक से समझ नहीं पाते। बार–बार भ्रमित होते हैं। श्री कृष्ण जी द्वारा दिया गया आसक्ति रहित और कर्तव्यपरायण होकर कर्म करने का उपदेश सुनकर भी उनकी चंचल बुद्धि उन्हें युद्ध–स्थल पर अपने कर्तव्य बोध से विमुख रखती है। संसार में अमरत्व पाने के लिए जब पराक्रम दिखलाने का अवसर आया तब ऐसे समय में उनकी मानसिक असन्तुलन की स्थिति उन्हें कर्तव्य निष्ठा से विचलित कर 'युद्ध नहीं करूंगा' की भावना से प्रेरित करती हुई उन्हें महान अपयश के गर्त में धकेलने ले जा रही थी। तब वे जगद्गुरु भगवान श्री कृष्ण जी जो उनके प्रिय सखा भी हैं, से पूछते है–

हे गोविन्द ! आखिर क्यों आप मुझे बार–बार कर्मयोग की महिमा बतला रहे हैं ? क्यों करूँ मैं कर्म ? कर्म करना मेरे लिए क्यों आवश्यक है ? ये प्रश्न मेरी बुद्धि को बुरी तरह भ्रमित कर रहे हैं। मेरी सहायता कीजिए, हे माधव ! जब ज्ञान प्राप्त हो जाये तो फिर मनुष्य को कर्म करने की क्या आवश्यकता है ?

श्री व्यासदेव जी ने महात्मा अर्जुन के इस प्रश्न को गीता में इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि के शव॥

अर्थात–हे जनार्दन ! यदि आपको कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हो ?

वे प्राणीमात्र के सुहृदय योगेश्वर श्री कृष्ण चन्द्रजी महात्मा अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि वास्तव में मैं तो किसी को भी कर्मों में लगाना नहीं चाहता। कर्म करना तो मनुष्य की अपनी विवशता है। कर्म तो मनुष्य को न चाहते हुये भी करना पड़ेगा। क्योंकि वह कर्म करने के लिए पहले से ही बाध्य है। मैं कर्म करने की 'प्रेरणा' नहीं, कर्म को अपने यथार्थ रूप में दिखलाने वाला 'प्रकाश' हूँ। मैं कर्म की 'नियति' नहीं, कर्म को कुशल (संयमित) स्थिति में रखने वाला एक उपयुक्त 'मार्ग' हूँ और शुभाशुभ कर्मों का भेद दिखलाते हुए मनुष्य को कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त करने का मैं ही 'सफल–निर्देशन' हूँ। मैं कर्म करने की आज्ञा कर्मों का 'दास' बनने के लिए नहीं, उन पर अपना अधिकार जमाये रखने हेतु कर्मों का 'स्वामी' बनने के लिए देता हूँ। याद रख तू कर्मों के द्वारा संचालित होने के लिए नहीं है, कर्म तेरे द्वारा संचालित होने के लिए हैं। एक और गम्भीर बात विशेष रूप से याद रखने की है जो मोक्ष का अन्तिम साधन है। अपने कर्मों को 'वासना' के गन्दे दुर्गन्धयुक्त जल से मत सींचना, ऐसा किया तो परिणाम में घास–फूस, झाड़–झंखड ही हाथ लगेंगे। तालाब–पोखर आदि के ठहरे हुये दुर्गन्ध युक्त अपवित्र जल को महासागर के दर्शन नहीं होते। ठहर कर, आलसी बनने की कोशिश मत कर।

जीवन–संघर्ष से हार मत मान, अपने जीवन में गति ला। ठहर गया तो पोखर के जल की तरह अपवित्र हो जायेगा। फिर दुःख रूप संसार की महा अग्नि में ही पड़ा जलता रहेगा, फिर तू मुक्त नहीं हो सकेगा इस संसार से। अन्त में अग्नि का विकार धुँआ बनकर वातावरण को प्रदूषित करके अंततः संसार के लिए भी अहित का ही कारण बनेगा, और क्या अपेक्षा की जा सकती है भोगी–विलासियों से। वासनामय जीवन न कभी किसी के लिए आज तक सुखकर हुआ न आगे कभी होगा।

हे अर्जुन ! तू अपने कर्मों को गंगाजल के सदृश 'कर्तव्य परायणता' के निर्मल पवित्र जल में सींचना, जहाँ कर्मों में आसक्ति का लवलेश भी न हो। तू निश्चय जान मेरे प्रिय सखा ! गंगाजल का पुरुषत्व तुझे अपने साथ बहाकर मार्ग में अनेक प्रकार की सुख–दुख की अनुभूतियों के साथ, बाधा–रुकावटों से विचलित न करते हुऐ तुझे अन्त में ईश्वरीय परमानन्द के महासागर से मिला ही देगा। तब मुझ में और तुझमें कोई भेद नहीं रहेगा।

'मैं' और 'तू' समाप्त होकर 'हम' की उस सृष्टि में लय हो जायेंगे जहाँ दो अथवा असंख्य होकर भी सदैव 'एक' ही जाना जायेगा।

निष्काम कर्मयोग ही 'मोक्ष' का एक मात्र साधन है। मनुष्य मोह के वशीभूत होकर अपने ही कर्मों को अपने सुख–दुःख का कारण बना लेता है। मैं सुख–दुःख की अनुभूति से उसे सर्वथा अतीत रखने के लिए ही युग–युग से आसक्ति रहित 'श्रेष्ठ कर्मयोग सिद्धान्त' अर्थात 'निष्काम कर्मयोग' का उपदेश करता चला आ रहा हूँ।

अपने प्रवचन की सतत् धारा में आगे पूज्य गुरुदेवजी ने कहा– लला ! महात्मा अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण चन्द्र जी ने स्पष्ट समझाते हुए कहा– हे अर्जुन !

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्म कृत।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकति जैर्गुणैः।।

अर्थात्–निः सन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता क्योंकि सारा मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

भगवान ने प्रकृति जनित गुणों की ओर इशारा किया है। क्या है यह ? यही है पूर्व शुभाशुभ कर्म संस्कार जो मनुष्य को उसके प्रत्येक वर्तमान जन्म में कर्म करने के लिए बाध्य करते है अर्थात् कर्म करने की अनिवार्य प्रेरणा देते हैं। अच्छे–बुरे संस्कारों को भोगने की प्रक्रिया में ही नये संस्कारों का जन्म हो जाता है। जैसे–शुभ कर्मों के भोग काल में मनुष्य अत्यधिक भोग–विलासिताओं का जीवन व्यतीत करने हेतु अपनी वासनाओं को विस्तार देने में अनेक नवीन संस्कारों का निर्माण कर लेता है। इसी प्रकार अशुभ संस्कारों के भोगकाल में आये कष्टों से मुक्त होने के लिए वह अनेक प्रकार के उचित–अनुचित कर्म करके अनेकों नये संस्कार कमा लेता है। जो उसकी एक नवीन जन्म की सृष्टि करने के लिए पर्याप्त होते हैं। यही शुभाशुभ कर्मों का वह कर्म बन्धन है जो हमें पुनः संसार चक्र में धकेलने के लिए पहले से ही हमारी आत्मा को कसकर बांध लेता है।

हमारे चित्त में हमारे कर्मों के संस्कार पड़े रहते हैं। इन कर्मों के भुगतान के लिए ही हमें बार–बार अनेक प्रकार के शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। हमारे चित्त में पिछले कर्मों के संचित जो संस्कार पड़े रहते हैं वही संस्कार वर्तमान में कर्म करने की प्रेरणा प्रदान करते है। इस प्रकार यह कर्म और संस्कार की पुनावृत्ति एक चक्र के रूप में निरन्तर चलती रहती है।

अब हम तुम्हारे प्रश्न के उत्तर की ओर बढ़ते हैं लला ! पिछले कर्म संस्कारों को हर हाल में भोगना ही होता है। भोगकाल में आये कर्मों को, कुछ विशिष्ट साधनों से सूक्ष्म अथवा व्यापक कर लेना एक अलग विषय है। किन्तु भोगना तो प्रत्येक दशा में अनिवार्य है।

पूर्व संचित शुभ कर्मों के शुभ परिणामों (सुख) को तो मनुष्य बड़े आराम से हर्षोल्लास के साथ भोग लेता है किन्तु अशुभ कर्मों के महान कष्टों से प्रत्येक व्यक्ति बचना चाहता है उन्हें कोई भोगना नहीं चाहता

इसीलिए भोग काल के समय उस कष्ट से बचने के लिए अनेक उपाय करता है। अनेक लोगों के पास भटकता फिरता है किन्तु अत्यधिक क्लिष्ट संस्कार कर्मफल के रूप में यदि उदय हुआ है तो सामान्य उपायों से लाभ उठाने का प्रथम तो अवसर ही प्राप्त नहीं होता और यदि मिल भी गया तो वह व्यर्थ ही रहता है। क्योंकि अत्यधिक क्लिष्ट संस्कार कर्मफल के विरोध में सामान्य उपायों के सूक्ष्म प्रभाव महत्वहीन हो जाते हैं।

वे बड़े सौभाग्यशाली और महान हैं। जिन्होंने ईश्वरानुग्रह से सर्वसमर्थ पूर्ण सद्गुरुदेव को पा लिया है। क्योंकि गुरुदेव की कृपा से उनके पिछले अशुभ कर्म जनित महान कष्ट अपने सूक्ष्म फल देते हुये बड़ी शीघ्रता से भोग लिए जाते हैं। उन्हें सामान्य निगुरे लोगों की तरह जीव जन्तुओं के जैसा कष्ट नहीं सहना पड़ता किन्तु इसमें गुरुदेव के प्रति पूर्ण निष्ठा–श्रद्धा अपेक्षित है चाहे गुरुभक्ति की पूर्व संचित निष्ठा ही क्यों न हो। गुरुभक्ति का यह अनुपम लाभ, गुरुभक्तों को यथा श्रद्धा पल–पल पर प्राप्त होता रहता है।

कर्म की विस्तृत व्याख्या में कर्म संस्कार के अन्तर्गत तीन प्रकार के कर्म भेद से सर्वप्रथम क्रियमाण कर्म दूसरे संचित कर्म तथा तीसरे प्रारब्ध कर्म है। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में कर्म–संस्कार के रूप में ढेरों कर्म भोगफल देने के लिए पड़े हैं। इन्हीं कर्मों में से थोड़े से कर्म संस्कार अपने–अपने जीवन काल में भोगने हेतु प्राप्त हो जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में जो सुख–दुःख दृष्टिगोचर होता है वह सब उसके प्रारब्ध कर्म संस्कारों के भोग फल का ही परिणाम होता है।

लला ! तुम्हारे इस बच्चे का यह जन्म पूरा ही अति क्लिष्ट–प्रारब्ध कर्मों का भोगकाल उदय होने से महान कष्टमय था। किन्तु उन करुणा निधान की कृपा तो देखिये कि उन्होंने बच्चे के समस्त जीवन को प्रबल कष्टों से भरने वाले अति क्लिष्ट संस्कारों का भुगतान कितना सूक्ष्मता से कर दिया और बालक का जन्म धन्य कर दिया।

आनन्दकन्द श्री प्रभुजी संस्कारों को काटने की अपेक्षा उनके भोग लेने में अधिक रूचि रखते हैं। संस्कार को काटने में कर्म बीज का नाश नहीं होता कालान्तर में वह पुनः प्रबल होकर प्रकट जाता है। जबकि अशुभ संस्कारों के भोग लेने में कर्मबीज का पूर्ण रूपेण नाश हो जाता है। आगे के लिए फिर कोई खतरा नहीं रहता।

यदि अकारण दयालु श्री प्रभुजी अपनी दया, कष्ट से पीड़ित बच्चे पर नहीं दिखलाते तो बच्चा जीवन भर महान दुःख की पीड़ा से कराहता रहता है। समस्त जीवन नारकीय हो जाता। शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग देह में यदि प्राण सुरक्षित बने भी रहे तो उससे क्या लाभ ?

जीवन के परम लक्ष्य को पाने के लिए स्वस्थ शरीर पहली आवश्यकता है। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी मेरे गुरुदेव स्वभाव से ही परम दयालु हैं। कतिपय कष्टों से तपते अपने बच्चों को वे ढूंढ ही लिया करते हैं। और उन पर अपनी सहज कृपा वर्षा किया करते हैं।

जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर रहता है वह दृश्य की त्रिगुणात्मक सत्ता से निकलना चाहते हुये भी नहीं निकल सकता। क्योंकि उस पर गुणात्मक प्रभाव बना ही रहता है। इसका आशय ये है कि पूर्व कुशलता कुशल कर्मों को भोगे बिना 'मुक्ति' संभव नहीं है। अविद्यावशात अहंकारी, कामी व क्रोधी पुरुष

पिछले कर्म फलों के भोगकाल में ही, आगे भोगने के लिए नये कर्म बीजों का निर्माण कर लेता है यही उसकी अज्ञानता है इसको मूढ़ता भी कहते हैं जो असंयमित (योगरहित) जीवन के फलस्वरूप ही है। वह पिछले थोड़े से कर्म भोग नहीं पाता कि आगे के लिए ढेरों शुभाशुभ कर्म कमा लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक फन्दे को खोलने में सैकड़ों नये फन्दे हमारी आत्मा को बांध लेते हैं। यही कारण है कि आजतक हम पूर्ण रूप से अपने पिछले कर्मों को भोग नहीं पाये है और जन्म के बाद जन्म लेते चले आ रहे है। पूर्व कृत कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त शुभाशुभ भोगों से यदि मुक्ति हो तो इस भवसागर (संसार) से स्वयं ही मुक्ति हो जाये। इस लिए मनुष्य को चाहिए कि किसी धन का स्वामी, सम्पत्ति का मालिक, ज्ञानोपदेशक, तकनीक का विशेषज्ञ, यश, कीर्ति आदि भौतिक उपलब्धियों को कमाने की भावनाओं के वशीभूत होकर कर्म चेष्टायें करने में, किसी को सुख तो किसी को दुख देने के लिए अनावश्यक उद्योग न करें। ऐसे लोगों को अहंकार के सिवाय कुछ भी प्राप्त नहीं होता। व्यर्थ अपनी पुण्य शक्ति को खोना है। जो कुछ श्री प्रभुजी की सृष्टि में स्वयं घटित हो रहा है क्या उसी में 'सन्तुष्ट' रहना उचित नहीं है ? क्या जरूरी है कि हम ईश्वर के स्वचालित प्राकृतिक गुण धर्मों की सक्रियाओं में अपना हस्तक्षेप पैदा करें ही करें ? यदि हम ऐसा करते हैं तो इसके पीछे हमारी कोई वासना (व्यक्तिगत स्वार्थ) ही होती है। यदि हमें कोई बुराई पनपती दिख रही है तो लोकहित में हमें उसे रोकने के लिए हस्तक्षेप अवश्य करना चाहिए। लेकिन गांधीजी के आदर्श की तरह। जिन्होंने स्वाधीनता का अधिकार पाने के लिए अंग्रेजों के हजारों अत्याचारों को सहर्ष सहा। उनकी निन्दा–चुगली नहीं की उनके दोष नहीं गिनाये। अपने आदर्शों को उन्होंने अपने समर्थकों–प्रशंसकों में कूट–कूट कर भर दिया था। सारा हिन्दुस्तान उनके एक इशारे पर नाचने लगा। जिन महापुरुषों ने देशप्रेम में अपना जीवन बलिदान किया उसके पीछे गांधीजी की अद्भुत प्रेरणा शक्ति ही थी। वे अपना अधिकार माँग रहे थे, सहनशक्ति, बलिदान और अदैन्यता के आधार पर। वे अंग्रेजों को अपमानित कर बल पूर्वक अपना अधिकार छीनने का कुकृत्य नहीं करना चाहते थे। प्रबल शस्त्रधारी अंग्रेज समाज को गांधीजी की सहनशक्ति के पुरुषार्थ बल के आगे आखिरकार नतमस्तक होना ही पड़ा।

'स्वतन्त्र भारत' का अधिकार पाने में गांधीजी ने अहिंसा व्रत का कितना उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। अहिंसा व्रत के पालन में 'सहनशक्ति के गुण' का होना अति आवश्यक है। 'सहनशक्ति' से अद्भुत आत्मबल का निर्माण होता है जिसके आगे सभी भौतिक बल अपनी उपयोगिता को खो देते हैं। 'आत्मबल' आत्मा से सम्बन्धित होने के कारण ईश्वरीय बल होता है। जिसका आत्मबल जितना अधिक होता है आध्यात्मिक जगत में वह उतना ही बलवान समझा जाता है। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी बतलाया करते थे कि गांधीजी साक्षात ईश्वर के अवतार थे।

यह सब मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मैं चाहता हूँ, हमारे सभी प्रिय बच्चे अपनी स्वार्थ पूर्ति की आवश्यक चेष्टाओं को त्याग कर पुरुषार्थ जीवन जीते हुये योग प्रचार करें जिसमें सर्वहित में प्रेम, त्याग और बलिदान की सुगन्ध सम्मिलित हो। जिससे अपने साथ–साथ सभी का परम् कल्याण हो, सभी को परम सुख की प्राप्ति हो।

क्रमशः

प्रारब्ध–विचार

(विवेक चूड़ामणि से)

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम्।
संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्।।

जाग जाने पर जैसे स्वप्नावस्था के कर्म लीन हो जाते हैं, वैसे ही मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान होते ही करोड़ों कल्पों के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

* * *

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्।।
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्।।

लक्ष्य की ओर छोड़ दिये गये बाण के समान ज्ञान के उदय से पूर्व ही आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिये बिना ज्ञान से नष्ट नहीं होता, जैसे व्याघ्र समझकर गौ की ओर छोड़ा हुआ बाण पीछे उसको गौ जान लेने पर भी बीच में नहीं रोका जा सकता वह तो तुरंत अपने लक्ष्य को बेध ही देता है।

* * *

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनाम्।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता–
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम्।

विद्वान का प्रारब्ध–कर्म अवश्य ही बलवान होता है। उसका क्षय भोगने से ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त पूर्व संचित और आगामी कर्मों का तो तत्वज्ञानरूप अग्नि से क्षय हो जाता है। किन्तु जो ब्रह्म और आत्मा की एकता को जानकर सदा उसी भाव में स्थित रहते हैं उनकी दृष्टि में तो वे (प्रारब्ध, संचित और आगामी) तीनों प्रकार के ही कर्म कहीं नहीं है, वे तो मानो साक्षात् निर्गुण ब्रह्म ही है।

* * *

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा
न संग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः।
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे
न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम्।।

उसको (विद्वतजन को) न तो मिथ्या वस्तुओं को सिद्ध करने की इच्छा होती है और न उसके पास सांसारिक पदार्थों का संग्रह देखा जाता है। यदि फिर भी उसकी मिथ्या पदार्थों में प्रवृत्ति रहे तो यह निश्चय है कि वास्तव में उसकी नींद टूटी ही नहीं है।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008

मई, 1999

प्रेषण कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री———————————

———————————

———————————

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

(श्रीमद्भगवद्गीता २/७०)

जैसे विभिन्न नदियों के जल जब सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं। वहीं पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है। भोगों को चाहने वाला नहीं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326